

(४७)



भारत का विधि आयोग

न्यायालय फीस संरचना का पुनरीक्षण

विषय पर

189वीं रिपोर्ट

न्यायाधिपति
एम. जगन्नाथ राव
अध्यक्ष,



भारत का विधि आयोग
शास्त्री भवन
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3384475
फैक्स : 3073864, 3388870
निवास :
1, जनपथ
नई दिल्ली-110011
फोन : 3019465
25 फरवरी, 2004

प्रिय श्री अरुण जेटली जी,

“न्यायालय फीस संरचना का पुनरीक्षण” विषय पर विधि आयोग की 189वीं रिपोर्ट प्रेषित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। आयोग ने इस विषय को विधि कार्य विभाग के पत्र संख्यांक ओ.एम.नं. ए-60011/14/2003 प्रशा. 3 विका.वि. तारीख 11 फरवरी, 2003 के अंतर्गत प्राप्त निर्देश के आधार पर उठाया है। वास्तव में, न्याय विभाग ने अपने पत्र संख्यांक एल.-11018/1/2002-न्या. तारीख 29-8-2002 द्वारा विधि कार्य विभाग से निवेदन किया था कि वह ‘न्या. फीस संरचना के उन्नतशील पुनरीक्षण तथा तंग करने वाली मुकदमे बाजी को निरुत्साहित करने के लिए वित्तीय अप्रोत्साहकों के निर्माण की आवश्यकता’ के विषय को विचारार्थ विधि आयोग को निर्दिष्ट करे। न्याय विभाग का, जैसा कि उसके पत्र में उल्लेख है, यह मत है कि यद्यपि रूपए का मूल्य गिरा है और न्यायालय फीसों से न्याय प्रक्रिया के प्रशासनिक खर्चों का केवल एक अश मात्र ही इस समय पूरा होता है, फिर भी अधिकांश मामलों में न्यायालय फीस का लम्बे समय से पुनरीक्षण नहीं हुआ है।

विधि आयोग के लिए केवल न्यायालय फीस के विषय पर रिपोर्ट देने का यह पहला ही अवसर है। अतः न्यायालय फीस के संग्रहण की बाबत बुनियादी सिद्धांतों की इस रिपोर्ट में विस्तार से चर्चा की गई है।

विधि आयोग ने न्यायालय फीस के प्रश्न की जांच इस आधुनिक सिद्धांत की पृष्ठभूमि में की है कि न्याय तक पहुंच के अधिकार को सारे विश्व में एक बुनियादी मानवीय अधिकार के रूप में स्वीकार किया जा चुका है, तब उच्चदर न्यायालय फीस न्याय तक पहुंच के मार्ग में बाधा हो सकती है और आज कामन लॉ तथा विधि शास्त्र की सिविल विधि प्रणाली से शासित सभी देश इस मत के पोषक हैं।

रिपोर्ट के अध्याय 4 और 5 में जैसी चर्चा की गई है, आज यह बात स्वीकार की जा चुकी है कि न्याय प्रशासन तंत्र उपलब्ध कराना राज्य का मौलिक कर्तव्य है। दाण्डक न्याय का प्रशासन, जैसा/कि सभी देशों ने स्वीकार किया है, राज्य की प्रभुता सम्पन्नता का अंग है और यह मत है कि वास्तव में कोई भी फीस नहीं लगाई जानी चाहिए। जहां तक सिविल न्याय के प्रशासन का प्रश्न है, सभी देशों का यह मत है कि सिविल न्याय के पूरे खर्चों की वसूली का सिद्धांत आज चलने वाला नहीं है। विभिन्न विधि आयोगों, न्यायालयों और न्यायविदों का भी यही मत है। उनका यह मत है कि इन खर्चों का निर्वहन राज्य के सामान्य राजस्व से होना चाहिए। अतः केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को न्याय प्रशासन के खर्चों का अधिकांश भाग करदाताओं से संग्रहीत सामान्य राजस्व में से वहन करना होगा। हम इस बात को दोहराना चाहते हैं कि न्याय प्रशासन के खर्चों को वहन करने के लिए विधि तलाश करने की समस्या के संबंध में, कॉमन लॉ से तथा सिविल विधि अधिकारिता से शासित देशों में यह चलन है कि उक्त व्यय का वहन सामान्य उपयोजन द्वारा और सरकारी वित्तपोषण से किया जाना चाहिए न कि कोई फीसों में वृद्धि के साधन का उपयोग करके।

निर्देश में यह सुझाव दिया गया है कि तंग करने वाली मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करने के लिए न्यायालय फीस में वृद्धि की जानी चाहिए। जहां तक तंग करने वाली मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करने की बात है, विधि आयोग

विषय-वस्तु

पृष्ठ सं.

1-2

3-15

16-25

26-37

38-43

44-45

46-49

50

51-53

लाई मेकुले द्वारा तथा न्यायालयों के निर्णयों में पहले ही व्यक्त किए गए इस मत से सहमत हैं और उसका अपना भी मत है कि तंग करने वाली मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करने के लिए न्यायालय फीस में वृद्धि करने का सिद्धांत सही नहीं है। न्यायविदों ने और न्यायालयों ने यह संकेत दिया है कि, विपरीततः, न्यायालय फीसों की उच्चतर दरें ईमानदार और सच्चे मुकदमेबाजों को निश्चित रूप से निरुत्साहित करेंगी, और ऐसा नहीं होने दिया जाना चाहिए, तथापि, तंग करने वाली और तुच्छ मुकदमेबाजी पर अंकुश लगाने की दृष्टि से आयोग यह सिफारिश करता है कि पूर्वतर मुद्रास राज्य के राज्य अधिनियम, अर्थात्, तंग करने वाली मुकदमेबाजी (निवारण) अधिनियम, 1949, के अनुरूप एक केन्द्रीय विधि तैयार की जा सकती है। ऐसी विधियां यूके., आस्ट्रेलिया आदि में प्रवृत्त हैं। इसके अतिरिक्त, तंग करने वाली या तुच्छ मुकदमेबाजी के मामलों में अनुकरणात्मक खर्च भी अधिरोपित किया जा सकता है।

यह उल्लेख करना आवश्यक है कि 'उच्चतम न्यायालय के सिवाए किसी न्यायालय फीस भारत के संविधान की 7वीं अनुसूची की सूची 2 (राज्य सूची) की प्रविष्टि 3 के अंतर्गत आने वाला विषय है। उच्चतम न्यायालय में देय न्यायालय फीस सूची 1 (संघ सूची) की प्रविष्टि 77 के अंतर्गत आती है। उच्चतम न्यायालय के सिवाए किसी न्यायालय में देय न्यायालय फीस क्योंकि न्याय सूची के अंतर्गत आने वाला विषय है अतः दस राज्यों ने अपने-अपने राज्यों में लागू न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को पहले ही निरसित कर दिया है और अपनी न्यायालय फीस विधियां अधिनियमित कर ली हैं। अन्य अधिकांश राज्यों ने भी उन राज्यों में लागू कोई फीस अधिनियम, 1870 में संशोधन कर दिए हैं। पांडिचेरी संघ राज्य क्षेत्र ने भी एक पृथक न्यायालय फीस अधिनियम अधिनियमित किया है। संसद, केवल संघ राज्य क्षेत्रों तथा उच्चतम न्यायालय के लिए न्यायालय फीस के विषय पर विधि बना सकती है। उच्चतम न्यायालय ने इस विषय में नियम बनाए हैं।

विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर, विधि आयोग सिफारिश करता है कि रूपए के अवमूल्यन के प्रभाव को दूर करने तथा मुद्रास्फीति की दरों में वृद्धि के उद्देश्य से, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 की अनुसूची 2 में विहित न्यायालय फीस की नियत दरों का उचित रूप से पुनरीक्षण किया जा सकता है। तथापि, मूल्यानुसार न्यायालय फीस का पुनरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन मामलों में न्यायालय फीस दावे के मूल्य के अनुपात में अदा की जाएगी जो कि हर दशा में मुद्रास्फीति के पश्चात् दावे के वार्धित मूल्य को दर्शाएगी।

अतः, सिफारिश यह है कि, जहां तक ऐसे संघ राज्यक्षेत्रों का संबंध है जिनमें कोई विशेष अधिनियम लागू नहीं है, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में यथाविहित न्यायालय फीस की दरों में, गत वर्षों में रूपए के अवमूल्यन को ध्यान में रखते हुए, वृद्धि करना पर्याप्त होगा।

इस रिपोर्ट को तैयार करने में हमारे आयोग के अंशकालिक सदस्य डा० एस. मुरलीधर ने जो मूल्यानुसार सहयोग दिया है उसकी हम प्रशंसा करते हैं।

सादर,

भवदीय

(एम. जगन्नाथराव)

श्री अरुण जेटली
विधि और न्याय संघ मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली

240 LT 6 C9/05-2

अध्याय I

भूमिका

निर्देश

विधि कार्य विभाग ने, माननीय विधि और न्याय मंत्री के अनुमोदन से, 'न्यायालय फीस संरचना' का बृद्धिकारक पुनरीक्षण तथा तंग करने वाली मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करने के लिए वित्तीय प्रोत्साहकों के निर्माण की आवश्यकता से संबंधित विषय को अपने पत्र संख्यांक ओ.एम. नं. ए-60011/14/2003 प्रशा. III वि.का. वि. तारीख 11 फरवरी, 2003 द्वारा विधि आयोग को निर्दिष्ट किया था। न्याय विभाग ने अपने पत्र संख्यांक एल-11018/1/2002-न्याय. तारीख 29-8-2002 द्वारा विधि कार्य विभाग से निवेदन किया था कि न्यायालय फीस संरचना के पुनरीक्षण के विषय को विधि आयोग को निर्दिष्ट किया जाए।

14 जुलाई, 2002 को आयोजित सचिवों की स्थाई समिति की बैठक में यह सुझाव दिया गया था कि तंग करने वाली मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करने के उद्देश्य से विधि प्रणाली में वित्तीय अप्रोत्साहकों का निर्माण करने की आवश्यकता है। तदनुसार, उस बैठक में यह निर्णय लिया गया कि इस सुझाव को विधि आयोग को उसके विचार के लिए निर्दिष्ट किया जाए। स्थाई समिति को यह सूचित किया गया था कि अधिकांश मामलों में न्यायालय फीस का एक लम्बे समय से पुनरीक्षण नहीं किया गया था और इस समय न्यायालय फीस से न्यायिक प्रक्रिया के प्रशासनिक खर्चों की केवल आंशिक रूप से पूर्ति हो रही है। न्याय विभाग ने अपने उपरोक्त पत्र में इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। पत्र में उल्लेख है कि यद्यपि वर्ष 1870 में, जब न्यायालय फीस अधिनियम लागू हुआ था, मूल्यांकन की तुलना में रूपए के मूल्य में बहुत कमी हुई है। किन्तु न्यायालय फीस का लम्बे समय से पुनरीक्षण नहीं हुआ है। इस बात पर ध्यान गया है कि स्थाई समिति को यह सूचना भी दी गई थी कि केन्द्रीय सरकार का संबंध केवल उच्चार न्यायालय तथा संघ राज्यक्षेत्रों में स्थित अन्य न्यायालयों में देय न्यायालय फीस से है। न्याय विभाग का भी यह मत है।

पूर्वतर प्रयोग

यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि न्याय विभाग ने 1999 में, गृह कार्य मंत्रालय द्वारा नियुक्त किए गए विशेषज्ञ समूह की सिफारिशों के अनुसरण में, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में संशोधन करने के प्रस्ताव की विस्तार से जांच की थी। तथापि, न्याय विभाग ने, तत्कालीन विधि और न्याय मंत्री के अनुमोदन से, यह मिश्चय किया कि अधिनियम में संशोधन नहीं किया जाए। यह विनिश्चय विशेष रूप से न्यागमन अधिनियम, 1920 (1920 का अधिनियम संख्यांक 38) के उपबंधों को विशेष रूप से दृष्टि में रखकर किया गया था जो राज्यों को न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में संशोधन करने के लिए, सशक्त करता है। न्यागमन अधिनियम, 1920 (1920 का अधिनियम संख्यांक 38) 1938 के अधिनियम संख्यांक 1 द्वारा निरसित किया जा चुका है।

विधि आयोग का दृष्टिकोण :

आयोग इस बात से अवगत है कि वह न्यायालय फीस संरचना के पुनरीक्षण के प्रश्न पर, और परिणामतः उन सुसंगत विधियों की बाबत जो 130 वर्षों से अधिक समय से लागू हैं, विचार करने जा रहा है। इस धारणा पर अप्रसर होना सुरक्षित नहीं है कि वह विधि प्रक्रिया जो समय की दृष्टि से प्राचीन है, अब अनिवार्यतः असंगत है या अप्रतिकूल है। अनेक प्रमुख क्षेत्रों में सत्य इसके विपरीत है और इस बात को आयोग ने हाल ही में तब अनुभव किया जब उसने साक्ष्य अधिनियम, 1872 का

पुनरीक्षण आरम्भ किया। भारतीय दण्ड संहिता, 1860 एक ऐसी विधि का उदाहरण है जो कि 'कालजयी' तथा व्यापक उपयोग की प्रतीत होती है। अतः, यह तथ्य मात्र कि न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 स्वातंत्र्य पूर्व विधि है अथवा एक शताब्दी से अधिक तक कायम रही है, उस विधि का सम्पूर्ण पुनरीक्षण की आवश्यकता की पुष्टि नहीं करता।

दूसरी ओर, यह निर्देश (रेफरेन्स) कतिपय अन्य दृष्टिकोणों पर आधारित है। इन दृष्टिकोणों का उल्लेख लाभप्रद रूप से निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :—

- (1) न्यायालय फीस, जिसका लम्बे समय से पुनरीक्षण नहीं हुआ है, न्यायिक प्रक्रिया के प्रशासनिक खर्चों की इस समय के बाल आंशिक रूप से पूर्ति करती है। यदि देखा जाए तो इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में यह विचार है कि न्याय प्रशासन के व्यय की पूर्ति अनिवार्य रूप से प्रयोगकर्ताओं पर प्रभार या न्यायालय फीस से की जानी चाहिए। हम इस पूर्व धारणा की गहराई से परीक्षा करना चाहेंगे।
- (2) तंग करने वाली मुकदमेबाजी को समाप्त करने के उद्देश्य से वित्तीय अप्रोत्साहकों के निर्माण की आवश्यकता है। विचार यह है कि न्यायालय फीस का उपयोग तुच्छ मुकदमेबाजी पर अंकुश लगाने के लिए तंत्र के रूप में किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, न्यायालय फीस में वृद्धि करने से तुच्छ/तंग करने वाले मुकदमेबाजों पर अंकुश लगेगा। इस विचार की विधिक स्वीकार्यता की परीक्षा करना भी आवश्यक है।
- (3) न्यायालय फीस के वर्तमान ढांचे में गत अनेक वर्षों में हुए रूपये के निरंतर अवमूल्यन को ध्यान में नहीं रखा गया है। और यह संरचना लम्बे समय से व्यथास्थिति में है। अतः, ऊपर उल्लिखित अपरिहार्य कारणों के होते हुए भी, न्यायालय फीस का पुनरीक्षण करना होगा जिससे कि वह रूपए के वर्तमान मूल्य को दर्शा सके। प्रथम और द्वितीय दृष्टिकोण ऐसे महत्वपूर्ण संवैधानिक और कानूनी प्रश्न पैदा करते हैं जिनका प्रभाव न्याय तक पहुंच के अधिकार पर पड़ता है। ऊपरोक्त तीसरा विचार विधि और अर्थशास्त्र का वर्णन करता है।

विचारणीय प्रश्न

तदनुसार, आयोग निम्नलिखित उन प्रश्नों पर विचार करना चाहता है जो उसके समक्ष विचारणीय हैं :—

- (1) न्याय तक पहुंच का आधुनिक सिद्धांत क्या है? इस पर विचार अध्याय II में किया गया है।
- (2) क्या संसद् न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में संशोधन कर सकती है और क्या संसद उच्च न्यायालयों या अधीनस्थ न्यायालयों में देय न्यायालय फीस के संबंध में विधि अधिनियमित कर सकती है? न्यायालय फीस विधि में समय समय पर किस रीति से संशोधन किए गए हैं इसकी चर्चा अध्याय III में की गई है।
- (3) क्या सिविल न्याय प्रशासन के बढ़े हुए व्यय का वहन करने के उद्देश्य से न्यायालय फीस की संरचना का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए? इस पर विचार अध्याय IV में किया गया है।
- (4) पूरे खर्चों की बसूली के सिद्धांत की बाबत अन्य देशों में क्या प्रणाली है? इस पक्ष की चर्चा अध्याय V में की गई है।
- (5) तंग करने वाली मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करने के लिए वित्तीय अप्रोत्साहकों के निर्माण के उद्देश्य से क्या न्यायालय फीस की संरचना का पुनरीक्षण करने की आवश्यकता है। इस पर विचार अध्याय VI में किया गया है।
- (6) तुच्छ मुकदमेबाजी पर रोक लगाने के लिए क्या क्या विकल्प हैं? इन विकल्पों की परीक्षा अध्याय VII में की गई है।
- (7) गत लम्बी अवधि के दौरान रूपए के मूल्य में गिरावट के कारण क्या कोर्ट फीस की संरचना का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए? रूपये के अवमूल्यन के अनुरूप न्यायालय फीस के पुनरीक्षण के प्रश्न पर अध्याय VIII में विचार किया गया है।
- विधि आयोग के निष्कर्ष और सिफारिशें इस रिपोर्ट के अध्याय IX में दी गई हैं।

अध्याय II

न्याय तक पहुंच का अधिकार

'न्याय तक पहुंच का अधिकार' के कामन लों अधिकार का इतिहास

इंग्लैण्ड में हेनरी II के राज काल के दौरान, 12वीं शताब्दी में 'न्याय तक पहुंच' तथा "विधि सम्मत शासन" के सिद्धांतों ने तब जड़ जमाई जब राजा ने रिट प्रणाली स्थापित करना स्वीकार किया जो सभी वर्गों के मुकदमेबाजों को अपने लिए राजा का न्याय प्राप्त करने में समर्थ बनाती थी। किन्तु शीघ्र ही राजा जॉन द्वारा 'राजा के न्याय' के दुष्प्रयोग के कारण 1215 में विप्रोह हुआ जिसका परिणाम मेगनाकार्टा था जो कि ब्रिटानी संविधानवाद का मूल श्रोत बना। उस समय भी और आज भी वह विधि सम्मत शासन के प्रति वायदे और इस संकल्प को प्रकट करता है कि स्वयं राजा भी कानून से बड़ा नहीं है।

जैसा कि ब्लेकस्टोन ने बाद में कहा था, "कामन लों का कृत्य कमजोर की मजबूत द्वारा बेइजती से रक्षा करना है" (3 ब्लेकस्टोन कॉमेन्टरीज, 3) I मेगनाकार्टा में इस बात पर बल दिया गया था कि न केवल राजा अपितु बैरन भी कानून से बंधे हुए थे और इस बात ने सभी 'स्वतंत्र व्यक्तियों' को सुरक्षा प्रदान की। मेगनाकार्टा के तीन प्रमुख खण्ड, जो कि 'न्यायालयों तक पहुंच के अधिकार' का आधार है निम्नलिखित शब्दों में रखे जा सकते हैं :—

"किसी भी स्वतंत्र व्यक्ति को बंदी नहीं बनाया जाएगा, कारागार में नहीं रखा जाएगा या बहिष्कृत नहीं किया जाएगा या देश निकाला नहीं दिया जाएगा या अन्य किसी प्रकार से नाश नहीं किया जाएगा और हम उसके विरुद्ध तब के सिवाए कोई कार्रवाई नहीं करेंगे जब उसके पीयरों ने विधिपूर्ण ऐसा निर्णय न दिया हो अथवा देश की विधि के अंतर्गत ऐसा न किया गया हो। हम न्याय के अधिकार को न तो बेचेंगे न उससे इनकार करेंगे न उसमें विलम्ब करेंगे।"

इसके अतिरिक्त ऊपर उल्लिखित उन सभी रिवाज और स्वतंत्रताओं का हमारे समस्त राज्य द्वारा और धर्म शासन द्वारा भी पालन किया जाएगा जिनके अनुपालन की हमारे साम्राज्य ने स्वीकृति दी है और जिनके संबंध में हम अपनी प्रजा के प्रति आब्दू हैं।

यह हमारी इच्छा है और हम दृढ़तापूर्वक संकल्प करते हैं कि इंग्लैण्ड का चर्च स्वतंत्र होगा, और हमारे साम्राज्य की प्रजा को, हमारी ओर से और हमारे उत्तराधिकारियों की ओर से उपरोक्त सभी स्वतंत्रताएं, अधिकार और सुवधाएं, पूर्ण रूप से तथा शांतिपूर्वक, निर्बाध रूप से और खामोशी के साथ, पूर्ण रूपेण, स्वयं उनके लिए और उनके उत्तराधिकारियों के लिए सभी प्रकार से सभी स्थानों और समयों पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्राप्त हैं और प्राप्त रहेंगे। इसके अतिरिक्त हमारी ओर से और बैरनों की ओर से भी यह शपथ ली गई है कि ऊपर उल्लिखित ये सभी शर्तें सद्भावनापूर्वक तथा बिना किसी बुरे आशय के, पूरी की जाएंगी। "हम सभी लीमीड नामक वन वाटिका में, जो विन्डसर तथा स्टेन्स के मध्य में स्थित हैं, अपने शासन के 17वें वर्ष जून मास के 15वें दिन ऊपर नामित व्यक्ति हस्ताक्षर करते हैं और वे भी हस्ताक्षर करते हैं जो इसके साक्षी हैं।"

रनीमीड में मेगनाकार्टा के बाद के 500 वर्ष से अधिक समय में न्यायालयों ने विवादों का समाधान किया, पूर्वोदाहरण सूजित किए और अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए जो कामन लों के नाम से विख्यात हुए। 'सर एडवर्ड कोक और विलियम ब्लेकस्टोन की कॉमेन्टरीयों से कामन लों के आधारभूत सिद्धांत स्पष्ट हुए जिनमें मानव के मौलिक अधिकार प्रकट हुए हैं। इन मौलिक मानव अधिकारों से संबंधित सिद्धांत और फ्रांस, युनाइटेड स्टेट तथा अन्य देशों के अनुभवों के परिणामस्वरूप अनेक देशों में बिल आफ राइट्स तथा संविधान सूजित हुए हैं। यह आवश्यक है कि जब भी किसी अधिकार का उल्लंघन हो तो, उसके उपचार के लिए उपबंध होना चाहिए। रोमन कहावत है 'यू.बी.जस ई. वी. रेमेडियम' अर्थात्, जहां अधिकार है वहां उपचार भी

है। आधुनिकतम सिद्धांत यह है कि 'न्याय तक पहुंच' का अधीकार कामल लों का भाग बन गया तथा तदनन्तर 'संवैधानिक विधि' के भाग के रूप में निरन्तर बना रहा और स्वीकार किया गया। न्या. लाज ने आर. बनाम लार्ड चांसलर—एक्स पेट विटहम 1997 (2) आल इंग्लिश रिपोर्टर 779 में कथन किया है कि कामन लों सामान्यतः संवैधानिक अधिकारों की भाषा नहीं बोलता है और उसका एक उचित कारण भी है कि किसी सावरिन टैक्स्ट के अभाव में, कोई लिखित संविधान जो कि तर्क और कानून की दृष्टि से विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की दृष्टि से पूर्व का होता है, उसमें प्रत्यक्षतः कोई क्रमबद्ध ऐसे अधिकार नहीं होते जिनका उक्त विधान मण्डल आदि, किसी विधि के अंतर्गत या अन्यथा प्रयोग करने के लिए सशक्त हो सकते हैं और यदि किसी संवैधानिक अधिकार के सिद्धांत को सार्थक करना है तो उसे निश्चित रूप से इतना सशक्त होना चाहिए जिससे वह ऐसी सुरक्षा प्रदान कर सके जो विधि उसे प्रदान करती है। जहां भी कोई लिखित संविधान किसी अधिकार की गारंटी देता है वहाँ कोई सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं है। राज्य प्राधिकारियों को उसे स्वीकार करना होगा सिवाए वहाँ तक जहां तक संविधान उन्हें उससे इनकार करने की आज्ञा देता है। तथापि, कुछ अन्य कठिनाईयां हो सकती हैं, जैसे, क्या संविधान का सही निर्विचान करने पर वह अधिकार, जिसका दावा किया गया हो, क्या वास्तव में उपलब्ध है। यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट के विधिविज्ञान की सामान्य जानकारी भी यह स्पष्ट करती है कि ऐसी कठिनाईयां गंभीर हो सकती हैं किन्तु वे उसी प्रवर्ग में नहीं आतीं जिससे प्रश्न उत्पन्न होता है, अर्थात्, क्या हमें संवैधानिक अधिकार प्राप्त है भी या नहीं?'

न्या. लाज ने आगे यह कथन भी किया है कि "ब्रतानी राज्य के कानूनी अलिखित आदेश, उस समय जब कामन लों संसद् की विधिक सर्वोच्चता को स्वीकार कर रहा हो, मेरे विवेक के अनुसार संवैधानिक अधिकार का सिद्धांत केवल इस दृष्टिकोण को प्रकट कर सकता है कि विनिर्दिष्ट उपबंध द्वारा अथवा प्रश्नगत अधिकार का राज्य तब तक उल्लंघन नहीं कर सकता जब तक कि संसद् के किसी अधिनियम में उन विनियमों द्वारा, जिनकी संवैधानिकता को मूल अधिनियम द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से उल्लंघन करने की शक्ति प्रदान की गई हो। ऐसा करने की शक्ति प्रदान की गई हो। साधारण शब्द पर्याप्त नहीं होंगे। ऐसे कोई अधिकार कामन लों से जन्म लेंगे क्योंकि उनकी विद्यमानता जनतांत्रिक राजनैतिक प्रक्रिया का प्रणालीम नहीं होगा अपितु वे तर्कतः उससे पूर्व के होंगे।"

यह अत्यन्त मनोरंजक है कि विटहम का उक्त निर्णय एक न्यायिक पुनरीक्षण कार्रवाई में दिया गया था जिसमें सुप्रीम कोर्ट फीस (अमेन्डमेन्ट) आर्डर, 1996 की संवैधानिकता को चैलेंज किया गया था जिस आदेश के आर्टिकल 6 द्वारा सुप्रीम कोर्ट फीस आर्डर, 1980 में संशोधन किया गया था जिसके द्वारा उस उपबंध को निरसित किया गया था जो मुकदमेबाजों को न्यायालय फीस देने की बाध्यता से व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति में भी छूट प्रदान करता था जिनके पास आय का साधन था तथा लार्ड चांसलर को किसी विशिष्ट मामले में, असम्यक् वित्तीय कठिनाई के आधार पर असाधारण परिस्थितियों में, फीस में कमी करने या छूट देने की अनुमति थी। सुप्रीम कोर्ट एक्ट, 1981 की धारा 130 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए जारी किए गए संशोधन को असंवैधानिक घोषित करते हुए, उच्च न्यायालय (वीन्स बेंच डिवीजन) ने निर्णय दिया कि उक्त संशोधन के परिणाम स्वरूप "अनेक व्यक्ति न्यायालयों से न्याय की मांग करने से सर्वथा वंचित हो जाएंगे।" यह बात जोर देकर कही गई (पृष्ठ 788) कि "न्यायालयों तक पहुंच एक संवैधानिक अधिकार है; सरकार इससे केवल तब वंचित कर सकती है जब वह संसद् को ऐसी विधि पारित करने के लिए राजी कर ले जो, स्पष्ट उपबंध द्वारा, कार्यपालिका को जनसाधारण को न्यायालय का द्वार खटखटाने से वंचित रखने की अनुमति प्रदान करती हो।"

इससे पूर्व भी, लॉर्ड डिप्लॉक ने, मध्यस्थों के आचरण पर नियंत्रण रखने की उच्च न्यायालय की शक्ति पर विचार करते हुए, आकस्मिक रूप से इस पहलू की चर्चा करते हुए, ब्रैमेन वल्कन सिफबैन एंड मैशीनफेब्रिक बनाम साउथ इंडिया शिपिंग कारपोरेशन [1981 ए सी 909—1981 (1) आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 289] में निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

"किसी लंबित कार्रवाई को प्राभियोजन के अभाव में खारिज करने की उच्च न्यायालय की शक्ति केवल इस बात का एक उदाहरण है कि न्यायालय को अपनी प्रक्रिया को नियंत्रित करने की एक सामान्य शक्ति है ताकि न्यायालय का इस्तेमाल अन्याय करने के लिए न किया जा सके। इस प्रकार की शक्ति 'कोर्ट ऑफ जस्टिस' के रूप में कार्य करने

के संवैधानिक कृत्य का एक अंग है। शासन की हर सुसंस्कृत प्रणाली यह अपेक्षा करती है कि राज्य को अपने सभी नागरिकों को अपने कानूनी अधिकारों से संबंधित विवादों के उचित और शांतिपूर्ण निपटारे के लिए कोई साधन उपलब्ध कराना चाहिए। वह साधन न्यायालयों के रूप में उपलब्ध कराया गया है और उन तक पहुंचने का संवैधानिक अधिकार प्रत्येक नागरिक को बादी के रूप में उपचार प्राप्त करने के लिए है जिस उपचार का दावा करने का वह अपने किसी कानूनी या न्यायजन्य अधिकार के किसी अन्य नागरिक द्वारा, प्रतिवादी द्वारा, कथित उल्लंघन करने के परिणामस्वरूप हकदार है।"

इसी प्रकार से, न्या. स्टेन रैब्स बनाम सैक्रेटरी आफ स्टेट फॉर होम डिपार्टमेंट, एक्स पी लीच [1993 (4) आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 539 (सी. ए.)] में एक बंदी के मामले का निपटारा कर रहे थे जिसने शिकायत की थी कि उस मामले के संबंध में, जिसमें वह उलझा हुआ था, वा जो वह दायर करना चाहता था, उसके वकील के साथ उसके पत्राचार पर कारागार अधिकारी प्रिजन रूल्स, 1964 के अंतर्गत विचार कर रहे थे। बंदी का दावा था कि प्रिजन एक्ट, 1952 की धारा 47 (1), जो नियम बनाने के लिए प्राधिकृत करती है, उसके वकील के बीच निर्विघ्न रूप से ऐसा पत्राचार करने में रोड़ा डाले जो पत्राचार प्रत्याशित कानूनी कार्यवाही से संबंधित है। विद्वान न्यायाधीश ने निम्नलिखित निर्णय दिया :—

"हमारी विधि का यह एक सिद्धांत है कि प्रत्येक नागरिक को न्यायालय तक निर्विघ्न पहुंच का अधिकार है। लॉर्ड विल्बाफोर्स ने रेमंड बनाम हनी 1983 ए सी [1982(1) आल इंग्लैण्ड रिपोर्टर 756] में इसे 'बुनियादी अधिकार' कहा है। हमारे अलिखित संविधान में भी इसकी गणना संवैधानिक अधिकार के रूप में है। उक्त मामले में लॉर्ड विल्बाफोर्स ने कहा है कि प्रिजनस एक्ट, 1952 में ऐसा कुछ नहीं है जो इस अधिकार में 'बाधा डालने' की या उसके प्रयोग में 'रोड़ा अटकाने' की शक्ति प्रदान करता हो। लॉर्ड विल्बाफोर्स ने कहा है कि वे नियम जो इस सिद्धांत का अनुपालन नहीं करते वे अवैध हैं। लॉर्ड उलविन जोन्स तथा किलोवान के लॉर्ड रसैल ने इससे सहमति जताई। यह सही है कि लॉर्ड विल्बाफोर्स ने निर्णय दिया था कि प्रश्नगत नियम सम्यक् निर्विघ्न पर प्रश्नगत नियम सम्यक् निर्विघ्न करने पर, अवैध नहीं थे। किन्तु यह बात संप्रेक्षण के महत्व को प्रमाणित नहीं करती है— लॉर्ड ब्रिज ने निर्णय दिया था कि प्रश्नगत नियम उक्त मामले में अवैध थे। वह लॉर्ड विल्बाफोर्स से भी आगे बढ़ गए और कहा कि न्यायालय तक निर्विघ्न पहुंच के किसी नागरिक के अधिकार को किसी प्रत्यक्ष अधिनियम द्वारा ही नकारा जा सकता है। (हमें) ऐसा प्रतीत होता है कि लॉर्ड विल्बाफोर्स का संप्रेक्षण मामले में रेशियोडिसाइडेंडी है, और हम स्वीकार करते हैं कि ऐसे अधिकारों को, कानूनी सिद्धांत की दृष्टि से, आवश्यक प्रावधान द्वारा ही नकारा जा सकता है।"

एक और मामले में, अर्थात्, दि वैक्सेशस एक्ट, 1896, रिबोलर '(1915) (1) के.बी. 21 में, यह निर्णय दिया गया था कि मजिस्ट्रेट के समक्ष जानकारी देने के किसी व्यक्ति के अधिकार को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता था क्योंकि वह 'वैक्सेशस' कानूनी कार्यवाही की परिधि में नहीं लाया जा सकता था जिन पर 1896 के कानून के अंतर्गत रोक लग सकती थी। न्या. स्कूटन निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचे थे :—

"किंग की प्रत्येक प्रजा का यह एक बहुमूल्य अधिकार है कि वह किंग के समक्ष उसके न्यायालय में अपील कर सकता है यदि वह यह आक्षेप करता है कि उसके साथ कोई सिविल अन्याय हुआ है, या यदि वह आक्षेप करता है कि उसके साथ कोई ऐसा अन्याय हुआ है जिसके लिए कोई दांडिकरूप से दंडनीय है और जो दुष्कृत्य किंग के अधीन किसी अन्य प्रजा ने किया है। यदाकदा इस अधिकार का दुरुपयोग होता है और इसलिए संसद् किंग की किसी प्रजा को इस अधिकार से पूर्णतया या भागतः वंचित करने के लिए सक्षम है। किन्तु किसी भी कानून की भाषा की जांच न्यायालय को गहराई से करनी होगी और ऐसे वंचन का विस्तार तब तक उस न्यायोचित उद्देश्यपूर्ण अर्थ के परे नहीं करना चाहिए जब तब कानून की भाषा ऐसे विस्तार का नहीं होता है। मैं ऐसे कानून पर, जिसके बारे में कहा गया हो कि उसका ऐसा अर्थ है, इस भावना से विचार करता हूं कि जब तब कानून की भाषा से मेरा स्पष्ट रूप से यह समाधान नहीं हो जाता कि विधानमंडल का ऐसा ही आशय था, तब तब मैं उसे प्रभावशील करने में धीमी गति से चलूँ क्योंकि उसका परिणाम प्रजा के स्वातंत्र्य में गंभीर होगा।"

सर जौन लॉज ने विश्वम में (पैरा 5.017) डॉ. स्मिथ ने ज्यूडिशियल रिब्यू ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव एक्शन (5वां संस्करण, 1995) को निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया है :—

“कॉमन लॉ में इस विधिक आशय की परिकल्पना की जाती है कि न्याययोग्य विवादकों के संबंध में क्वीन न्यायालय तक पहुंच से तब तक इंकार नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि किसी कानून में स्पष्ट शब्दों में ऐसा न हो।”

न्या. लॉज ने इंटरनेशनल ट्रांसपोर्ट रौथ जीविट बनाम होम सैकेटरी-2002 (3) डब्ल्यू एल आर 344 में अपने पृथक् निर्णय में इस बात को पुनः दोहराया है कि ह्यूमैन राइट्स एक्ट, 1998 के प्रवृत्त होने (तारीख 2-10-2000 से) के पश्चात् ब्रिटानी प्रणाली, जो कि किसी समय संसद् की सर्वोपरिता पर आधारित थी, बदलकर, अब संवैधानिक सर्वोपरिता के सिद्धांत पर आधारित हो गई है। उन्होंने ब्रीड बनाम अलवेरा 1998 (1) एस सी आर 493 में न्या. ब्योबकी के निर्णय को उद्धृत किया है जिसमें न्यायाधीश ने कहा है कि कनाडा के चार्टर ऑफ राइट्स एण्ड फ्रीडम्स के पश्चात् कनाडा ने संसदीय सर्वोपरिता के स्थान पर संवैधानिक सर्वोपरिता को अपना लिया है। उनका कथन है :—

“जब चार्टर आंरभ हुआ तब कनाडा ने, “पूर्व मुख्य न्यायाधिपति ब्रायन डिक्सन के शब्दों में, “संसदीय सर्वोपरिता के सिद्धांत से हटकर संवैधानिक सर्वोपरिता को अपना लिया.....। साधारण शब्दों में कहें तो प्रत्येक कनाडावासी को व्यक्तिगत अधिकार और स्वातंत्र्य प्राप्त हो गया जिन्हें कोई भी सरकार या विधानमंडल बापिस नहीं ले सकता।”

न्या. लॉज का कथन है कि विकास की वर्तमान स्थिति में, ब्रिटानी प्रणाली को संसदीय सर्वोपरिता और संवैधानिक सर्वोपरिता की मध्यवर्ती स्थिति पर खड़ा हुआ कहा जा सकता है.....।

अतः, उक्त निर्णयों से न्याय तक पहुंच के सिद्धांत से यह समझा जा सकता है कि वह संवैधानिक और कॉमन लॉ अधिकारिता का एक अविच्छिन्न अंग है, और पवित्र है तथा इस अधिकार में विधि डालने के किसी भी हलके प्रयास को सामान्यतया गंभीरतापूर्वक देखा जाना चाहिए।

अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार विधियाँ

1948 में प्रारूपित यूनीवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ राइट्स ने इन अधिकारों को विश्वस्तर पर मान्यता प्रदान की जिनमें निम्नलिखित रूप में न्यायालय तक पहुंच का अधिकार भी है :—

अनु. 6 : प्रत्येक व्यक्ति को सर्वत्र विधि के समक्ष व्यक्ति के रूप में पहिचान का अधिकार है।

अनु. 7 : विधि के समक्ष सभी समान हैं और बिना किसी भेद-भाव के विधि का संरक्षण प्राप्त करने के हकदार हैं।

अनु. 8 : प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या किसी विधि द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों का उल्लंघन करने वाले क्रूत्यों के लिए सक्षम राष्ट्रीय अभिकरण से प्रभावी उपचार प्राप्त करने का अधिकार है।

अनु. 10 : प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों और बाध्यताओं के विनिश्चय के लिए या अपने विरुद्ध किसी दांडिक आरोप के विरुद्ध स्वतंत्र या निष्पक्ष किसी अभिकरण द्वारा पूर्ण समानता के साथ न्यायोचित और पब्लिक सुनवाई का हकदार है।

अनु. 21 : (1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सरकार में, प्रत्यक्षतः या स्वतंत्रापूर्वक चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से, भाग लेने का अधिकार है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की लोकसेवा तक सक्षम रूप से पहुंच का अधिकार है।

इसी प्रकार से, इंटरनेशनल कवेनान्ट ऑन सिविल एण्ड पालिटीकल राइट्स, 1966 के अनुच्छेद 2 का खण्ड 3 यह उपबंध करता है कि कवेनेन्ट पक्षकार प्रत्येक राज्य वचनबद्ध है कि वह ‘यह सुनिश्चित करे कि ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जिसके मान्यता प्राप्त अधिकार या स्वतंत्र्य का उल्लंघन होता है; प्रभावी उपचार उपलब्ध होगा और यह सुनिश्चित करे कि हर व्यक्ति को, जो ऐसे किसी अधिकार का दावा करता है, अपने अधिकार का सक्षम न्यायपालिका, प्रशासनिक या विधायी प्राधिकारियों से अवधारण करने का अधिकार हो, तथा राज्य को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि न्यायिक उपचारों की संभावनाओं का विकास किया जाए।

इंटरनेशनल कवेनान्ट ऑन सिविल एण्ड पालिटीकल राइट्स, यूरोपियन कन्वेंशन तथा अन्यक्षेत्रीय कन्वेशनों में ऐसे उपबंध हैं जिनमें पक्षपात रहित और स्वतंत्र न्यायपालिका तक पहुंच के अधिकार के महत्व पर बल दिया गया है। यूरोपियन न्यायालय ने सूरोपियन कन्वेंशन, 1950 की बात अपने निर्णयों में जो गोल्डिन बनाम यू.के. 1975 (1) ई एच आर 524 और एअर बनाम आइरलैण्ड 1979 (2) ई एच आर आर 305 में तथा अन्य मामलों में दिए हैं, इस पहलू पर विचार किया है।

भारत में स्थिति :

हमारे देश में, निःसंदेह, नागरिकों की राजा तक पहुंच रही थी, ऐसा अधिकार जो, हमारे इतिहास के अनुसार, रामायण के समय से ही है, जब भारतीय न्यायालयों ने तदनन्तर इंग्लैण्ड के कॉमन लॉ को आत्मसात कर लिया, न्यायालयों तक पहुंच का अधिकार हमारी संवैधानिक विधि का भाग बन गया, अर्थात्, हमारे संवैधान के लागू होने से काफी पूर्व ही। यह अनुच्छेद 372 के कारण संविधान के बाद भी चालू रहा। हम दो मनोरंजक मामलों का उल्लेख करना चाहते हैं जो स्वतंत्र्य-पूर्व काल में उठे थे और जिनसे यह संकेत मिलता है कि न्याय तक पहुंच के अनुलंभनीय अधिकार को इस देश के न्यायालयों ने मान्यता प्रदान की थी और प्रवृत्त किया था।

प्रारंभिक निर्णयों में से एक मुम्बई उच्च न्यायालय ने रैक्स बनाम लेवोलिन इवांस ए आई आर 1926 मुम्बई 551 में दिया था। इस मामले में, इवांस को न्याय भंग के दांडिक आरोप में अदन में गिरफ्तार किया गया था और मुम्बई लाया गया था। बंदी को न्यायिक हिरासत में भेजने के आदेश के समय, इवांस के कानूनी सलाहकार को बंदी से मिलने से इंकार कर दिया। जिस मजिस्ट्रेट ने हिरासत में भेजने का आदेश दिया था, यह निर्णय दिया कि इस बात के बावजूद कि बंदीगृह अधिनियम, 1894 में यह उपबंध था कि दोषसिद्ध बंदी को, उचित निर्बंधनों के अधीन, अपने कानूनी सलाहकार से जेल में मिलने की अनुमति दी जानी चाहिए, मजिस्ट्रेट को ऐसी अनुमति देने की अधिकारिता नहीं थी। जो प्रश्न उठा वह यह था कि क्या इस अधिकार का विस्तार उस प्रक्रम तक था जहां बंदी पुलिस हिरासत में था। न्या. फौसिट ने, जो मुम्बई उच्च न्यायालय की उस पीठ पर पीठासीन थे जिसने मामलेकी सुनवाई की थी, इंग्लैण्ड में राविलसन कमेटी की रिपोर्ट का उल्लेख किया और इस बात पर ध्यान दिया कि “वे दिन बहुत पहले लद चुके थे जब राज्य जानबूझकर अपराधी को अपना बचाव करने के मार्ग में रोड़े अटकाता था, उदाहरणार्थ, वे दिन जब उसे देशद्रोह के आरोप में प्रतिरक्षा के लिए बकील रखने की भी अनुमति नहीं थी।” दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 340 का उल्लेख करते हुए न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि “उस उपबंध के अंतर्गत अधिकार में यह अंतर्निहित था कि बंदी को, यदि वह अभिरक्षा में है तो, उचित अवसर मिलना चाहिए कि वह अपनी प्रतिरक्षा की तैयारी करने के लिए अपने कानूनी सलाहकार से संपर्क करे।” पीठ के दूसरे न्यायाधीश न्या. मडगवकर ने यह और जोड़ दिया कि “यदि न्याय का लक्ष्य न्याय ही है और औचित्य न्याय की आत्मा है तो प्रत्येक पक्ष को अपना मामला तैयार करने का और न्यायालय के समक्ष अपना साक्ष्य पूर्ण रूप से, स्वतंत्रता से तथा उचित रूप से रखने का समान अवसर मिलना चाहिए। इसके लिए तैयारी आवश्यक है। न्याय की दृष्टि से ऐसी तैयारी तब ही प्रभावपूर्ण हो सकती है तब वह कुशल कानूनी सलाह की सहायता से की जाए—ऐसी मूल्यवान सलाह कि गंभीरतम दांडिक विचारों में, जब जीवन और मृत्यु, पलड़े में हों, जब वह राज्य स्वयं, जो बंदी का अभियोजन कर रहा है, बंदी को, यदि गरीब है, ऐसी कानूनी सहायता भी उपलब्ध कराए।”

हमारे न्यायाधीशों के साहस और चातुर्य का एक अन्य उदाहरण, और भी हमारे राजनीतिक और विधिक इतिहास के कठिन समय में, पी.के.टेरे बनाम एम्परर ए आई आर 1943 नागपुर 26 में मिलता है। प्रतिवेदकों ने, जिन्होंने 1942 के भारत

छोड़ो आंदोलन में भाग लिया था, भारत प्रतिरक्षा अधिनियम, 1939 के अधीन अपने निरोध को इसलिए चैलेंज किया था कि उनका निरोध इस कारण से अवैध था क्योंकि प्राधिकारियों ने उन्हें कानूनी सलाह लेने के लिए अपने वकील से मिलने की अनुमति देने और व्यक्तिगत रूप से न्यायालय जाने से मनाही कर दी थी। तत्कालीन सरकार का तर्क था कि भारत प्रतिरक्षा अधिनियम, 1939 ने दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 491 के अंतर्गत बंदी से प्रत्यक्षीकरण अर्जी प्रस्तुत करने का अधिकार छीन लिया था। न्यायालय ने इस तर्क को ईशुगब्दी बनाम ऑफीसर एडमिनिस्ट्रिंग द गवर्नरमेंट ऑफ नाईजीरिया में लॉर्ड हेलशाम के इस संप्रेक्षण के आधार पर खारिज कर दिया कि “ऐसे मूल अधिकारों को, जिनकी रक्षा संविधान के अंतर्गत विस्तृत और चिंतापूर्ण सावधानी के साथ की गई थी और जिन्हें देश के उच्चतम न्यायालयों ने अत्यधिक कठोर भाषा में बार-बार स्वीकार किया था, किसी भी बहाने से ड़ग्या नहीं जा सकता था या किसी आधारहीन व्यापकता से हट्या नहीं जा सकता था। अधिकार में किसी को संदेह नहीं है और न कोई संदेह समुचित प्राधिकारी उसे हटाने की शक्ति के बारे में है, किन्तु हटाने का अधिकार स्पष्ट और त्रुटि रहित होना चाहिए; और कोई भी सरकार साम्राज्य कर रही हो, और देश में शांति हो या युद्ध, सही सिद्धांत लागू होगा।” न्या. विवियन बोस ने, न्यायालय की ओर से मुख्य राय व्यक्त करते हुए, स्पष्ट किया था कि उच्च न्यायालय में कार्यवाही आरंभ करने का अधिकार, भारत प्रतिरक्षा अधिनियम, 1939 के होते हुए भी, यथावत् विद्यमान था। इसके अतिरिक्त, यद्यपि न्यायालय कार्यपालिका को बहुत हद तक छूट देते हैं तथा प्रजा की स्वतंत्रता के पक्ष में परिकल्पनाएं कमजोर हो जाती हैं किन्तु “ऐसे अधिकार पूर्णतया विलुप्त नहीं हो जाते।” न्यायालय ने स्पष्ट निर्णय दिया कि “इन नियमों की आड़ में अविदकों को न्यायालय से दूर रखने का प्रयास शक्ति का दुरुपयोग है तथा उसे रोकना आवश्यक है।”

न्या. विवियन बोस ने, अपने निर्णय के अनुक्रम में, न्यायालय की शरण लेने और यह मांग करने के हर व्यक्ति के इस अधिकार पर बल दिया कि उसका निपटारा विधि के अनुसार किया जाए। उनका कथन था कि “यह अधिकार भारत में भी उतना ही मूल्यवान है जितना इंग्लैण्ड में, या साम्राज्य के किसी अन्य भाग में, बल्कि यहां अन्यत्र की अपेक्षा और अधिक उच्च है; तथा न्यायालय इसकी उत्साहपूर्ण रक्षा करते हैं।”

संविधान तथा तदन्तर

भारत के संविधान के बनाए जाने के समय संविधान सभा में हुए वाद-विवाद गणमान्य सदस्यों के बीच मनोरंजक आदान प्रदान के साक्षी हैं। अनुच्छेद 22(1) संविधान के प्रारूप में अनुच्छेद 15क था और उसमें उपबंध किया गया था कि “किसी भी व्यक्ति को, जिसे गिरफ्तार किया जाए, अभिरक्षा में तब ही निरुद्ध किया जाएगा जब उसे, यथासंभव शीघ्र, ऐसी गिरफ्तारी के आधारों की जानकारी दे दी जाती है और उसे अपनी पसंद के विधि व्यवसायी से परामर्श करने के अधिकार से अंतर्गत नहीं किया जाएगा।” डॉ. अम्बेडकर उस आलोचना के प्रति जागरूक थे जो अनुच्छेद 21 (संविधान के प्रारूप का अनुच्छेद 15) में से “सम्यक् प्रक्रिया” के लोप के कारण हो सकती थी। उन्होंने ध्यान आकर्षित किया कि “उस समय अनुच्छेद 15 को पारित करते समय जो कुछ दिया गया था उसकी भरपाई के लिए ही इस अनुच्छेद को पुरुषस्थापित किया जा रहा था। दूसरे शब्दों में, हम अनुच्छेद 15क को पुरुषस्थापित करके ‘सम्यक् प्रक्रिया’ के मूल तत्व का उपबंध कर रहे हैं।” उन्होंने यह उल्लेख भी किया कि “अनुच्छेद 15क में दंड प्रक्रिया संहिता के दो अत्यन्त आधारभूत सिद्धांतों को लिया गया है जिनका अनुसरण प्रत्येक सभ्य देश अंतरराष्ट्रीय न्याय के रूप में करता है”, अर्थात्, गिरफ्तार किए गए किसी भी व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसे गिरफ्तारी के कारणों से अवगत कराया जाए तथा यह अधिकार कि उसे अपनी प्रतिरक्षा अपनी पसंद के विधि व्यवसायी द्वारा करने दी जाए। ध्यान रहे कि संविधान के अनुच्छेद 22 के खंड (क) में केवल दो अपवाद हैं, अर्थात् (क) विदेशी शत्रु और (ख) निवारक निरोध विधियों के अंतर्गत निरुद्ध व्यक्ति। उन्हें किसी वकील से परामर्श करने या उसके द्वारा प्रतिरक्षण का तथा मजिस्ट्रेट के समक्ष 24 घंटों के भीतर प्रस्तुत किए जाने के अधिकार नहीं हैं।

संविधान में न्यायालयों तक न्याय के लिए पहुंच, विशेषरूप से उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय तक पहुंच के महत्व को स्वीकार किया गया है। किसी मूल अधिकार को प्रवृत्त करने और उसकी रक्षा करने के लिए उच्चतम न्यायालय में प्रतिवेदन करने का अनुच्छेद 32 के अधीन स्वयं ही एक मूल अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 143 के अंतर्गत रैफरेंस

(केशवसिंह का मामला) (ए आई आर 1965 उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि “इस निमित्त न्यायिक शक्ति की विद्यमानता से यह अनिवार्य रूप से और निःसंदेह स्पष्ट हो जाता है कि नागरिक को उस निमित्त न्यायालय में अवेदन करने का अधिकार विद्यमान है।” केशवानंद में न्यायिक पुनरीक्षण को संविधान के मूल ढांचे का अंग स्वीकार किया गया है और इस स्थिति की पुष्टि सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने एल. चन्द्रकुमार बनाम भारत संघ (1997) 3 एस सी सी 261 में की है।

‘न्यायालयों तक पहुंच’ के अधिकार के अंतर्गत कानूनी सहायता और वकील रखने का अधिकार भी है

अनुच्छेद 39क संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा पुरुषस्थापित किया गया था जिसमें यह उपबंध है कि “राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक प्रणाली से, समान अवसर के आधार पर, न्याय का प्रोन्यन्य होता है, तथा, विशिष्ट रूप से, समुचित विधि द्वारा या स्कीमों द्वारा या किसी अन्य प्रकार से निशुल्क कानूनी सहायता उपलब्ध कराएगा ताकि यह सुनिश्चित हो जाए कि कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से इस कारण वंचित न रहे कि कोई आर्थिक या अन्य कोई असमर्थता है।”

हमें यहां अनुच्छेद 21 के अंतर्गत जीवन के अधिकार को परिवेष्टित करने वाले न्यायशास्त्र के विकास के लिए उठाए गए कदमों को, विशेषकर ऐतिहासिक मेनका गांधी के निर्णय के पश्चात् कम करके नहीं बताना चाहिए। अनुच्छेद 21 तथा कानूनी सहायता के अधिकार के बीच संबंध का निर्माण हुसैनआरा खातून बनाम बिहार राज्य (1980) एस सी सी 81 के निर्णय से हुआ था जब न्यायालय बिहार की जेलों में वर्षों से पड़े हुए हजारों विचाराधीन अपराधियों के कष्ट से, जिनका कभी भी कोई प्रतिनिधित्व कोई वकील नहीं कर रहा था, क्षुब्ध हो गई थी। न्यायालय ने घोषणा की कि “इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि द्वित विचारण, जिससे हमारा अभिप्राय युक्तियुक्त शीघ्रातिशीघ्र विचारण से है, अनुच्छेद 21 में उल्कर्षित जीवन और स्वातंत्र्य के अधिकार का एक अभिन्न और अनिवार्य अंग है।” न्यायालय ने उल्लेख किया कि अनुच्छेद 39क में बल दिया गया है कि निःशुल्क कानूनी सेवा ‘युक्तियुक्त, भेदभावहित और न्यायपूर्ण’ प्रक्रिया का अनंतरणीय अंश है तथा निःशुल्क कानूनी सेवाओं का अधिकार अनुच्छेद 21 में दी गई गारंटी में अंतर्निहित है। न्या. भगवती ने अपने अनुलीनीय अंदाज में घोषणा की: “कानूनी सहायता वास्तव में और कुछ नहीं अपितु व्यवहार में समान न्याय है। कानूनी सहायता वास्तव में सामाजिक न्याय के परिदान की आपूर्ति प्रणाली है। यदि ऐसे अपराधी को निःशुल्क कानूनी सेवाएं उपलब्ध नहीं कराई जाती तो यह जोखिम है कि विचारण को ही अनुच्छेद 21क का उल्लंघन करने के आधार पर अवैध मान लिया जाए और हमें कोई संदेह नहीं है कि प्रत्येक राज्य सरकार ऐसी स्थिति की संभावना से बचने का प्रयास करेगी।” न्या. भगवती ने सुकदास बनाम अरुणाचल प्रदेश संघ राज्य क्षेत्र (1986) 2 एस सी सी 401 में इस सिद्धांत को दोहराया और कहा कि “यह अब निश्चित विधि है कि राज्य के खर्च पर निःशुल्क कानूनी सहायता किसी अपराध के अपराधी व्यक्ति का मूल अधिकार है और इसमें उसके जीवन या वैयक्तिक स्वातंत्र्य का नाश अंतर्निलित हो सकता है और यह मूल अधिकार अनुच्छेद 21 द्वारा विहित युक्तियुक्त, भेदभावहित और न्यायपूर्ण प्रक्रिया की अपेक्षा में अंतर्निहित है।” निर्णय का उक्त उल्लेख अधूरा रह जाएगा यदि न्या. कृष्ण अय्यर का उल्लेख नहीं किया जाए जो कि मानवाधिकार न्यायशास्त्र के एक अन्य अद्भुत शिल्पी थे। एम.एन. होस्कोट बनाम महाराष्ट्र राज्य (1978) 3 एस सी सी 544 में उन्होंने घोषणा की थी कि “यदि कारावास से दंडादिष्ट कोई बंदी अपील करने के, जिसके अंतर्गत अपील की विशेष अनुमति भी आती है, अपने संवैधानिक और कानूनी अधिकार का प्रयोग करने से बस्तुतः इसलिए असमर्थ है कि उसे कानूनी सहायता प्राप्त नहीं है तो संविधान के अनुच्छेद 21 और 39क के साथ पठित अनुच्छेद 142 के अंतर्गत यह शक्ति न्यायालय में अंतर्निहित है कि ‘पूर्ण न्याय करने के लिए’ वह ऐसे बंदी व्यक्ति के लिए वकील समनुदेशित करे।”

न्याय तक पहुंच के अधिकार विषय पर संविधान के पुनरीक्षण के लिए आयोग की सिफारिश

हाल ही में संविधान समीक्षा आयोग ने सिफारिश की कि ‘न्याय तक पहुंच’ को प्रत्यक्षतः एक मूल अधिकार के रूप में सम्मिलित किया जाना चाहिए जैसा कि 1996 के दक्षिण अफ्रीकी संविधान में है। दक्षिण अफ्रीका के संविधान का अनु. 34 निम्नलिखित रूप में है:—

"अनु. 34 : न्यायालयों और अधिकरणों तक पहुंच तथा द्रुत न्याय"

(1) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे किसी भी विवाद को जिसका समाधान विधि के प्रयोग से हो सकता है, किसी न्यायालय या अधिकरण या तंत्र के समक्ष अथवा जहां उचित हो वहां, किसी अन्य स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायालय, अधिकरण या तंत्र के समक्ष निष्पक्ष लोक सुनवाई में निर्णीत करने का अधिकार है।

(2) न्यायालय तक पहुंच का अधिकार के अंतर्गत युक्तियुक्त रूप से द्रुत तथा प्रभावी न्याय का अधिकार भी उन सभी मामलों में सम्मिलित समझा जाएगा जो किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य तंत्र के समक्ष हैं और राज्य उक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सभी उचित कदम उठाएगा।"

तदनुसार, संविधान प्रभावशील पुनरीक्षण राष्ट्रीय आयोग ने निम्नलिखित शब्दों में अनुच्छेद 30क जोड़ने की सिफारिश की है :

"30क : न्यायालयों और अधिकरणों तक पहुंच तथा द्रुत न्याय"

(1) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे किसी भी विवादकों, जिनका समाधान विधि के प्रयोग से हो सकता है, किसी स्वतंत्र न्यायालय के समक्ष या जहां उचित हो, किसी अन्य स्वतंत्र और निष्पक्ष अधिकरण या तंत्र के समक्ष निष्पक्ष लोक सुनवाई में निर्णीत करने का अधिकार है।

(2) न्यायालय तक पहुंच के अधिकार के अंतर्गत युक्तियुक्त रूप से द्रुत तथा प्रभावी न्याय का अधिकार भी उन सभी मामलों में सम्मिलित समझा जाएगा जो किसी न्यायालय, अधिकरण या अन्य तंत्र के समक्ष हैं और राज्य उक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सभी उचित कदम उठाएगा।"

तथापि, अब भारत में कानूनी सहायता का अधिकार मजबूती के साथ कानूनी सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 में जोड़ दिया गया है। अधिनियम की धारा 12 में उपबंध है कि कानूनी सहायता साधन की क्षमता, दोनों के अनुसार उपलब्ध होगी। वास्तव में, मुकदमाकारों के एक बड़े वर्ग को उनकी विशेष आवश्यकताओं के कारण, ऐसे व्यक्ति का आर्थिक स्तर कुछ भी क्यों न हो, मुकदमा दायर करने या उसमें प्रतिरक्षा के लिए कानूनी सहायता स्वतः उपलब्ध है। [जैसे कि अभिरक्षाधीन व्यक्ति, बालक, स्त्रियां, अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 के अधीन शिकायतकर्ता, कर्मकार]। अधिनियम के अंतर्गत, हमें तालुक जिला और राज्य स्तरों पर कानूनी सहायता समितियों का एक व्यापक नेटवर्क उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त, उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में अपनी-अपनी कानूनी सहायता समितियां हैं। इन समितियों का कार्य प्रभावशील तथा अच्छे स्तर की कानूनी सहायता उपलब्ध कराना है जो न्यायालयों में कानूनी व्यपदेशों तक सीमित नहीं होगी अपितु विचार-विर्माश (काउंसिलिंग) तथा परामर्श के लिए भी होगी और यह एक महत्वपूर्ण चैलेंज है।

III

संवैधानिक न्यायालय और न्यायिक पुनरीक्षण

अब हम संक्षेप में न्यायिक पुनरीक्षण की शक्ति के क्षेत्र और विस्तार पर चर्चा करेंगे जिसके बारे में हमने यह गौर किया है कि वह हमारे 'संविधान' के बुनियादी ढांचे का एक अविच्छिन्न अंग है। विधान मंडल द्वारा बनाए गए कानूनों या कार्यपालिका के कार्यों की वैधता की जांच करने की संवैधानिक न्यायालयों की शक्ति के बारे में न्या. मार्शल, मुख्य न्यायाधिपति ने मरबी बनाम मेडीसन (1803) 5 यू एस 137 के प्रसिद्ध मामले में विस्तार से कथन किया था। उन्होंने कॉमन लॉ, ब्लैक स्टोन, संघीय दस्तावेजों और अमरीकी संविधान का भी पुनरीक्षण किया। सर्वप्रथम यह निर्णय देने के पश्चात् कि प्रत्यावेदक मरबी को आज्ञापक रिट (रिट आफ मेंडेमस) द्वारा सैक्रेटरी ऑफ स्टेट श्री मेडीसन को, कोकांलिया जिले के जिस्टिस ऑफ पीस के रूप में, कमीशन जारी करने के लिए बाध्य करने का अधिकार था, न्यायाधीश निर्णय के अगले प्रक्रम पर पहुंचे। प्रश्न यह था कि

"यदि मरबी को अधिकार था, और उस अधिकार का उल्लंघन हुआ था, तो क्या देश की विधि उसके लिए उसे कोई उपचार उपलब्ध कराती थी?"

न्या. मार्शल ने इसका उत्तर निम्नलिखित शब्दों में दिया :

"सिविल स्वातंत्र्य का मूल सार निश्चित रूप से इसमें निहित है कि प्रत्येक व्यक्ति को कोई क्षति होने की दशा में कानून की रक्षा का दावा करने का अधिकार है। सरकार का सर्वोपरि कर्तव्य ऐसी रक्षा उपलब्ध कराना है। ग्रेट ब्रिटेन में, स्वयं राजा के विरुद्ध, आदरपूर्वक अर्जों के रूप में, वाद लाया जाता है, और वह अपने न्यायालय के निर्णय का अनुपालन करता है।"

उन्होंने निम्नलिखित आशय के साथ ब्लैक स्टोन को उद्धृत किया :—

"इंग्लैण्ड की विधि में यह एक सुस्थापित और अपरिवर्तनीय सिद्धांत है कि प्रत्येक अधिकार के लिए, जिसमें व्यवधान डाला जाता है, उपचार होना चाहिए और प्रत्येक क्षति के लिए समुचित अनुतोष होना चाहिए। युनाइटेड स्टेट्स की सरकार को सदैव विधियों की सरकार कहकर पुकारा जाता है न कि व्यक्तियों की सरकार। यदि विधियां निहित कानूनी अधिकार के उल्लंघन की दशा में कोई उपचार प्रदान नहीं करेंगी तो युनाइटेड स्टेट्स निश्चित रूप से उपरोक्त प्रशंसा का पात्र नहीं रहेगा।"

लोक विधि तथा प्राइवेट विधि विभाजन

जिन अधिकारों का उल्लंघन होता है वे प्राइवेट विधि या लोक विधि का भाग होते हैं। संवैधानिक विधि के विद्यार्थी अधिकारों के इन दो प्रवर्गों के बीच जो भिन्नता है उससे भली भाँति परिचित हैं। एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच जो अधिकार विद्यमान हैं अथवा जो राज्य के प्रति भी हैं, प्राइवेट अधिकार हो सकते हैं, जैसे कि किसी संविश या टॉर्ट से व्युत्पन्न हैं। जो अधिकार राज्य से या उन अधिकरणों से, जिन्हें राज्य के कर्तव्य समनुदिष्ट हैं, जैसे कि कोई कानूनी नियम या स्वास्थ्य पब्लिक सैक्टर, यूनिट संबंधित हैं, वे संविधान से शासित हैं अथवा ऐसे कानूनों से विनायमित हैं जिन्हें बनाने की अनुमति संविधान ने दी है, जिससे कि इन अधिकारों को नियंत्रित किया जा सके तथा एक ओर व्यष्टि के अधिकारों और दूसरी ओर लोक हित, दोनों के बीच समन्वय कायम रखा जा सके। ये लोक विधि के सिद्धांतों शासित होते हैं।

प्राइवेट अधिकारों का उल्लंघन होने की स्थिति में पक्षकार सामान्य, सिविल दांडिक न्यायालयों की शरण ले सकते हैं। कतिपय अपराध व्यक्तियों द्वारा व्यक्तियों के विरुद्ध या राज्य अथवा पब्लिक अधिकरणों के विरुद्ध किए जाते हैं। कुछ को छोड़कर, जहां प्राइवेट कार्रवाई की अनुमति दांडिक विधि ने दी है, अन्य अपराधों के बारे में कार्रवाई राज्य अपने प्राभिवोजन अधिकरणों के माध्यम से करता है ताकि विधि व्यवस्था बनाई रखी जा सके। राज्य को इसलिए कार्रवाई करनी पड़ती है क्योंकि विधि-व्यवस्था बनाए रखना राज्य का कर्तव्य है।

जहां तक निर्णयों को क्रियान्वित करने की बात है, उच्चतर न्यायालयों को संविधान के अधीन और अवमानना विधियों के अधीन, दांडिक कार्रवाई करने की शक्तियां हैं यदि कार्यपालक अधिकारी उनके आदेशों का अनुपालन नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त संविधान में उपबंध किया गया है कि सरकार भारत के उच्चतम न्यायालय की सहायता के लिए कार्य करेगी। अतः, यह स्पष्ट है कि वह व्यक्ति, जिसके संवैधानिक या कानूनी अधिकारों का उल्लंघन होता है, संवैधानिक न्यायालयों तक, अर्थात्, उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय तक पहुंच सकता है।

लोकहित मुकदमे

अब हम 'लोकहित मुकदमों' की प्रणाली की चर्चा करेंगे जो हमारे संवैधानिक न्यायालयों का भाग बन गई है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में लोकहित सामाजिक कार्रवाई समूहों, कानूनी सोसाइटियों, विश्वविद्यालयों के शिक्षकों, बकालों, स्वैच्छिक संस्थाओं तथा लोकभावना युक्त नागरिकों द्वारा मुकदमे दायर करने का सिलसिला दैश में

बढ़ता गया है। इससे ऐसे हजारों व्यक्तियों के कष्टों के निवारण में सहायता प्राप्त हुई है जो कष्ट उन्हें सरकारी लोगों के दबाव और ज्यादतियों, प्रशासनिक सुस्ती या मनमौजीपन अथवा फायदाप्रद कानूनों के प्रवर्तित न किए जाने के कारण हुए हैं। विचारणाधीन तथा दोषसिद्ध बंदियों, रक्षागृहों की महिलाओं, असंगठित मजदूरों, अछूतों, दुःखी अनुसूचित जातियों और जनजातियों, भूमिविहीन कृषि मजदूरों, झुग्गी-झोंपड़ी वासियों, आदि के मामले लोकहित मुकदमों (पी आई एल) के रूप में सुने जाते हैं। पर्यावरण को नुकसान या पर्यावरण दूषित करने से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए 'मुकदमा दायर करने की हैसियत' (लोकस स्टेन्डी) के सिद्धांत को व्यापक बना दिया गया है। पुलिस या राज्य के विरुद्ध निर्देश प्राप्त करने के लिए भी और ब्रह्म व्यक्तियों के विरुद्ध कार्रवाई के लिए लोकहित मुकदमे दाखिल किए जाते हैं। परिणाम यह है कि 'मुकदमा दायर करने की हैसियत' के कठोर नियम, जो हमारे संवैधानिक न्यायालयों की रिट अधिकारित के बारे में लागू थे, अब व्यावहारिक रूप से लुप्त हो गए हैं।

फर्टीलाइजर कामगार यूनियन बनाम भारत संघ

ए आई आर 198 एस सी 344 में न्या. कृष्ण अध्यर का कथन था कि—

"सरल शब्दों में, समय के चैलेंजों का सामना करने के लिए, 'मुकदमा दायर करने की हैसियत' (लोकस स्टेन्डी) को उदार करना होगा। 'जहां अधिकार है वहां उपचार भी है' (यूबी जस ईबी रेमेडियम) को इस प्रकार से व्यापक बनाना होगा कि लोक समर्थक नागरिकों या संगठनों के सभी हितों को, जो लोक संसाधनों के संरक्षण के लिए तथा सर्वांगीण न्याय के प्रोन्वयन की दृष्टि से लोकशक्ति को दिशा देने और उसमें सुधार के लिए गंभीर रूप से चिंतित हैं, सम्मिलित किया जा सके।"

IV

पर्याप्त न्यायालयों और वित्तीय सहायता की आवश्यकता

अब हम कतिपय उन महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार करेंगे जो न्याय तक पहुंच के अधिकार को प्रभावित करते हैं। अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य को पर्याप्त संख्या में न्यायालय स्थापित करने होंगे, उनमें अर्हित, सक्षम और स्वतंत्र न्यायाधीश रखने होंगे, तथा आवश्यक कर्मचारिवृद्ध और अन्य आवश्यक वस्तुएं रखनी होंगी। किन्तु आज मांग और आपूर्ति में बहुत बड़ा अंतर है। यह सर्वविदित है कि विधि आयोग ने अपनी 120 वीं रिपोर्ट में उल्लेख किया है कि भारत में प्रति लाख जनसंख्या पर केवल 10.5 प्रतिशत न्यायाधीश हैं जबकि अमेरिका, यू.के. और अन्य देशों में प्रति लाख जनसंख्या पर 100 से लेकर 150 तक न्यायाधीश हैं। संघ सरकार और भारत के राज्यों ने गत 50 वर्षों में न्याय प्रणाली में सुधार नहीं किया है और परिणामतः न्यायालयों में बड़ी संख्या में मुकदमे लम्बित हैं। संसद् या राज्य विधान मंडलों द्वारा बनाई गई प्रत्येक विधि नए सिविल अधिकारों तथा बाध्यताओं को जन्म देती है और नये दांडिक अपराधों का सृजन हो जाता है। ऐसी विधियों को लागू करने से पूर्व इस बात का आकलन किया जाना चाहिए कि उसका न्यायालयों पर क्या न्यायिक प्रभाव पड़ेगा—जैसे कि यह कि उस अधिनियम के कारण कितने सिविलवाद पैदा होंगे या कितने दांडिक मामले न्यायालयों के सामने जाएंगे। प्रत्येक विधेयक के साथ इसी के अनुरूप बजट आबंटन की मांग वित्तीय ज्ञापन में भी की जानी चाहिए किन्तु गत पचास वर्षों में यह नहीं हुआ है। हम उल्लेख करना चाहते हैं कि अमेरिका में प्रत्येक कानून के लिए न्यायिक प्रभाव का आकलन अनिवार्य है तथा पर्याप्त बजट उपबंध किया जाता है। दुर्भाग्यवश, भारत में ऐसा नहीं किया जाता। यहां सिद्धांत यह है कि न्याय-शाखा के लिए व्यय राज्य द्वारा संगृहीत साधारण करों में से बहन किया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, हमारे देश की विशाल लम्बाई चौड़ाई में स्थित सिविल तथा दांडिक न्यायालय, संसद् तथा राज्य विधान मंडलों द्वारा बनाए गए विभिन्न कानूनों द्वारा सुजित सिविल अधिकारों और दांडिक अपराधों का अधिनियम करते हैं। हम सभी को ज्ञात हैं कि संविधान की सांतांवीं अनुसूची में तीन सूचियां हैं। सूची 1 की प्रविष्टियां उन विषयों करते हैं।

के बारे में हैं जिन पर केवल संसद् विधियां बना सकती हैं; सूची 2 की प्रविष्टियां उन विषयों से संबंधित हैं जिन पर केवल राज्य विधानमंडल विधायन कर सकते हैं तथा सूची 3 की प्रविष्टियां उन विषयों की बाबत हैं जिन पर संसद तथा राज्य विधान मंडल, दोनों ही, विधि बना सकते हैं। आज स्थिति यह है कि राज्य सरकारों द्वारा स्थापित न्यायालय संसद तथा राज्य विधान मंडलों द्वारा बनाई गई विधियों से उत्पन्न सिविल तथा दांडिक मामलों का अधिनियम करते हैं। अधिकांश विधियां, जैसे, संपत्ति अंतरण अधिनियम, भारतीय दंड संहिता, सिविल तथा दांडिक संहिताएं आदि सूची 3 में आती हैं। सूची 1 और सूची 3 में सूचीबद्ध विषयों के कारण बहुत बड़ी संख्या में सिविल और दांडिक मामले उठते हैं। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय सरकार संसद में ऐसी विधि प्रस्तुत करती है जिनके कारण राज्य सरकारों द्वारा स्थापित न्यायालयों पर केन्द्रीय विधियों से उत्पन्न मुकदमों का भार बढ़ता जाता है। तथापि केन्द्रीय सरकार राज्यों में विचारण और अपीली न्यायालयों को स्थापित करने की दिशा में कोई योगदान नहीं करती है। इस कमी की ओर संविधान पुनरीक्षण आयोग ने इशारा किया है। इस बात की अबिलंब आवश्यकता है कि केन्द्रीय सरकार ऐसी योजना लेकर आगे आए जिसके अंतर्गत हमारे अधीनस्थ न्यायालयों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो।

आज, उनमें से सत्तर प्रतिशत से अधिक व्यक्ति, जिन्हें कारागार में निरुद्ध रखा जाता है, विचारणाधीन हैं और उनके दोष निर्णीत होने हैं। संघ तथा राज्य, पर्याप्त संख्या में दांडिक न्यायालय उपलब्ध न कराने के कारण ऐसे व्यक्तियों को अनुचित अवधि तक निरुद्ध रखकर, संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा गारंटीकृत हमारे दांडिक न्यायालयों में न्याय तक पहुंच के अधिकार का तथा द्रुत न्याय के अधिकार का निरंतर उल्लंघन कर रहे हैं। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि द्रुत न्याय अनुच्छेद 21 में उल्लिखित 'जीवन का अधिकार' शब्दों के अंतर्गत, एक मूल अधिकार है।

बहुत समय पहले, 18वीं शताब्दी में, अलैक्जेंडर हेमिल्टन ने, जो अमरीका के संविधान के निर्माताओं में से एक हैं, फेडरल पेपर सं. 78 में, प्रायः उद्घृत की जाने वाली पंक्तियों में, घोषणा की थी कि संघ सरकार की न्यायिक शाखा एक ऐसी शाखा है जो 'संविधान के राजनैतिक अधिकारों के प्रति सदैव सबसे कम खतरनाक होगी' क्योंकि इस शाखा का

"न तो तलवार पर और न बदुए पर कोई प्रभाव है; उसे समाज की शक्ति या धन का कोई दिशा बोध नहीं है",

अतः, आरंभ में, हमें आवश्यकता है कि केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें, पर्याप्त संख्या में विचारण और अपीली न्यायालय, सिविल तथा दांडिक, स्थापित करें तथा कोई भी विधि बनाने से पहले, न्यायिक प्रभाव का आकलन करके, पर्याप्त बजट व्यवस्था करें। व्यय का वहन केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों द्वारा संगृहीत साधारण करों में से किया जाना चाहिए।

न्यायिक फीस

'न्याय तक पहुंच' का एक अन्य पहलू उन पक्षकारों से जो न्यायालयों की शरण आते हैं, 'न्यायालय फीस' की मांग करने की प्रणाली है। लार्ड मैकुले ने, जो 150 वर्ष पहले विधि आयोग के अध्यक्ष थे, घोषणा की थी कि बंगाल विनियम, 1975 की भूमिका 'एब्सर्ड' थी क्योंकि उसमें कथन था कि उच्च न्यायालय फीस का आशय निर्धक मुकदमेबाजी को भगाना था। उन्होंने जो कारण बताया वह था कि फीस में वृद्धि से ऐसे ईमानदार वादीगण भी भाग खड़े होंगे जो न्यायालय फीस चुकाने में असमर्थ हैं। विधि आयोग, 14वीं रिपोर्ट के समय से ही इस बात को दुहराता रहा है कि यह तर्क, कि निर्धक मुकदमेबाजी को रोकने के लिए न्यायालय फीस में वृद्धि की जानी चाहिए, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उच्चतम न्यायालय ने, पी.एम. अश्वथनारायण सैट्टी बनाम कर्नाटक राज्य 1989 सप. (1) एस सी सी 696 में, न्या. वैंकट चालिया (जिस पद पर वह तब थे) ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि बिना किसी सीमा के मूल्यानुसार न्यायालय फीस नियत करना, जैसा कि राजस्थान और कर्नाटक अधिनियमों में प्रस्तावित था, संवैधानिक था या नहीं,

ए.पी. हरबर्ट के 'मोर अनकॉमन लॉ' को उद्धृत किया जिसमें होगबी बनाम होगबी के काल्पनिक मामले में न्यायाधीश ने निम्नलिखित उल्लेख किया है :—

लाखत उरुख पक्ष का है।
 "यदि क्राउन को न्याय के लिए प्रभार लेना आवश्यक है तो फीस डाक फीस के समान कम होनी चाहिए। अर्थात्, यात्रा कितनी भी लम्बी क्यों न हो फीस समान होनी चाहिए। यह पक्षकार की गलती नहीं है कि किंग के न्यायाधीशों के समक्ष उसके प्रतिवेदन में अवधारण के लिए किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कठिन प्रश्न उठाए गए हैं और उसके लिए न्यायालय में सुनवाई के लिए लम्बा समय अपेक्षित होगा। वह तो न्याय की मांग कर रहा है मकान किराए पर नहीं उठा रहा है।"

न्यायाधीश ने काल्पनिक मामले में एटर्नी जनरल से पूछा :—

“पुलिस के लिए हर किसी को भुगतान करना पड़ता है, किन्तु कुछ व्यक्ति पुलिस का उपयोग औरें की अपेक्षा अधिक करते हैं। आपको हर बार चोरी के लिए फीस का भुगतान नहीं करना पड़ता, या पुलिसमैं से रास्ता नहीं पूछना पड़ता।”

न्या. वैकट चालिया ने मंतव्य प्रकट किया कि 'न्याय तक पहुंच' के मार्ग में न्यायालय फीस के रूप में किसी भी परिसीम न्या. वैकट चालिया ने मंतव्य प्रकट किया कि 'न्याय तक पहुंच' के मार्ग में न्यायालय फीस के रूप में किसी भी परिसीम का संबंध 'उस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना को, जिसमें समाज की हर श्रेणी के हर नागरिक की पहुंच न्याय तक हो, चाहे वह उसे धनाइय होने का आशीर्वाद प्राप्त हो या वह गरीबी में ढूँढ़ा हुआ हो, अत्यन्त भावुक और संभवतः उद्दीपक विषय के रूप में, अविच्छिन्न रूप से है।'

अस्तु, उक्त विधियों की संवैधानिकता के पक्ष में निर्णय देते हुए न्यायालय ने सभ्यों द्वारा न्यायालय फीस के उद्ग्रहण को युक्तियुक्त बनाने का सझाव दिया; विशेषरूप से निम्नस्तर के पक्षकारों से निम्नदर से फीस लेना जो इस सिद्धांत पर है कि जिन्हें जीवन में कम मिला है उन्हें कानून में अधिक मिलना चाहिए।

लार्ड न्यायाधीश ने यह कथन भी किया कि :

“बास्तव में सभी सभ्य सरकारें न्याय तक निःशुल्क पहुंच की आवश्यकता को स्वीकार करती हैं।”

वैकल्पिक विवाद समाधान और सौदा अभिवाक् (प्ली बारगेनिंग)

आजकल सर्वत्र माना जाता है कि न्यायालय सिविल विवादों का केवल अधिनिर्णय ही नहीं कर सकते अपितु पक्षकरों को माध्यस्थम्, परस्पर समझौता, बीच बचाव का मार्ग अपनाने या लोक अदालत में जाने के लिए भी प्रेरित करते हैं। न्यायालय अब केवल विवादों के अधिनिर्णय के केन्द्र नहीं हैं। न्यायालय-संलग्न प्रणाली पक्षकरों को इन वैकल्पिक पद्धतियों का प्रयोग करने के लिए बाध्य कर सकती है। सिविल संहिता, 1908 (1-7-2000 को यथा पुरःस्थापित) की धारा 89 ऐसी नीति का भाग है। अमेरिका में, 90 प्रतिशत सिविल वादों का निपटारा बीच-बचाव से होता है और वे विचारण तक नहीं पहुंचते। जो वकील बीच-बचाव कराते हैं उनकी पूछ सबसे अधिक है। भारत में भी समझौता सेटर बड़ी संख्या में बन रहे हैं, मुम्बई, अहमदाबाद, चेन्नई तथा अन्य स्थानों में वकीलों के स्वैच्छिक समूहों ने शुरुआत कर दी है।

दांडिक मामलों में सौदा अभिवाक् की सिफारिश विधि आयोग ने अपनी 153वीं रिपोर्ट में, जो दड प्रश्न संहिता, 1973 के बारे में है, और 'गिरफतारी से संबंधित विधि' विषयक 177वीं रिपोर्ट में भी की है तथा दंड विधि (संशोधन) विधेयक, 2003 संसद में लंबित है। इसका अर्थ है कि ऐसे अभियुक्त, जो न्यायालय के समक्ष दोष स्वीका करते हैं, कम सजा का अभिवाक् कर सकते हैं।

बिहार लीगल सपोर्ट सोयायटी बनाम भारत के मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य (ए आई आर 1987 एस सी 38) में उच्चतम न्यायालय ने मत व्यक्त किया है कि :

“भारतीय समाज के कमज़ोर वर्ग अनेक वर्षों से न्याय से बंचित हैं; अपनी गरीबी, अज्ञान और निरक्षरता के कारण न्याय तक उनकी पहुंच नहीं रही……हमारे देश के अधिकांश लोगों को ‘न्याय तक पहुंच’ से इंकार होता रहा है और उनमें निराशा तथा निःसहायता घर कर गए हैं, वे वहां शोषण के शिकार बने हुए हैं जहां आर्थिक शक्ति कुछ ही लोगों के हाथों तक सीमित है और उसका प्रयोग बहुसंख्या में मानव प्राणियों पर हावी बने रहने के लिए किया जाता है……इस न्यायालय ने लोकाहित मुकदमों का मार्ग निकाला है जिससे कि गरीबों और लाभ-विहीन वर्गों की आसानी से न्याय तक पहुंच रहे।”

अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट के न्या. ब्रेनम की विख्यात उक्ति को यहां उद्धृत किया जा सकता है:

“मानव के हृदय में सबसे अधिक जो बात खलती है वह अन्याय की बलबती भावना है। हम गरीबी का सामना कर सकते हैं किन्तु अन्याय की दशा में मन होता है कि सब कुछ नष्ट कर दें। जब केवल अमीर विधि का आनंद एक संदेहप्रद विकास के रूप में ले सकते हैं, और गरीब, जिन्हें इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, उसे इसलिए प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि उसका खर्चा उसे उनकी पहुंच के बाहर बना देता है, तो ऐसी दशा में स्वतंत्र प्रजातंत्र की विद्यमानता काल्पनिक नहीं अपितु सत्य हो जाती है क्योंकि प्रजातंत्र का अपना अस्तित्व इस बात पर निर्भर है कि न्याय तंत्र इतना प्रभावशील हो कि प्रत्येक नागरिक को निष्पक्षता और न्यायौचित्य में विश्वास रहे।”

'न्याय तक पहुंच' का अधिकार विधि सम्मत प्रशासन तथा संविधान के अनुसार न्याय के प्रशासन तथा संविधान के अनुसार प्रशासन का अंग है। यह न्याय प्रशासन पर, सिविल हो या दांडिक, प्रभाव डालने वाले हर कदम की बाबत मार्ग निर्देशक का कार्य करता है। हमारे देश की सामाजिक-आर्थिक वास्तविकताओं का अब तक प्रत्येक कानून सुधार पर प्रभाव पड़ा है। इसका महत्व तब और बढ़ जाता है जब उसमें आर्थिक संधार का अंश भी सम्मिलित हो जाए।

न्याय तक पहुंच के आधारभूत प्रश्न की इस अत्यावश्यक समझ के साथ, अब हम उन मुख्य प्रश्नों पर विचार आरंभ करेंगे जिन पर विचार करने के लिए हमने अध्याय (पूर्व) में चर्चा की है।

अध्याय III

उच्च न्यायालयों और अधीनस्थ न्यायालयों में देय न्यायालय फीस से संबंधित विधि अधिनियमित करने या उसमें संशोधन करने की संसद् की शक्ति

भारत में न्यायालय फीस विधि का इतिहास

भारत में ब्रिटानी राज्य प्रारम्भ होने के पूर्व, न्याय प्रशासन राज्य का, जनसाधारण के संरक्षक के रूप में, मौलिक कृत्य समझा जाता था और अपनी शिकायतों के निवारण के लिए न्यायालय जाने वाले पक्षकार पर उसके लिए कोई प्रभार उद्गृहीत नहीं किया जाता था। मुगल शासन के दौरान और उससे पूर्व भी, सिविल न्याय के प्रशासन के लिए भी कोई फीस देय नहीं थी तथा न्याय प्रशासन पूर्णरूप से निःशुल्क था। ब्रिटानी राज्य के बाद ही न्यायालय फीस लगाने के विनियम तैयार किए गए (देखिए—मद्रास राज्य के सचिव बनाम पी. आर. श्रीरमजू (1996) 1 एस सी सी 345 पैरा 6)।

भारत में न्यायालय फीस के बारे में पहली विधि 1782 का मद्रास विनियम III था और उसके पश्चात् और विनियम आए। तदन्तर, बंगाल में 1795 का बंगाल विनियम 38 पारित हुआ और उसके पश्चात् और विनियम बने। ब्रिटानी सरकार ने मुम्बई में 1802 का मुम्बई विनियम 8 पारित किया और तदन्तर उसके स्थान पर अन्य विनियम आए। इन सभी प्रांतीय विनियमों को 1860 के एक ही अधिनियम सं. 36 में आमेलित कर दिया गया था। इसके पश्चात् भी अनेक अधिनियम बने; और अंततः वर्तमान न्यायालय फीस अधिनियम, अर्थात्, 'न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 (1870 का अधिनियम सं. 7) का जन्म हुआ। 1870 के इस अधिनियम में समय-समय पर संशोधन होते रहे हैं।

1870 के अधिनियम के कारणों और उद्देश्यों के कथन में न्यायालय फीस को घटाने की आवश्यकता की बात कही गई है।

न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 के उद्देश्यों और कारणों के कथन में यह उल्लेख है कि इस विधि से पूर्व कोई विनियम मद्रास और मुम्बई स्थित हाई कोर्ट की सामान्य आरंभिक सिविल अधिकारिता की वित्तीय सीमाओं से बाहर स्थापित न्यायालयों और कार्यालयों में इन उच्च न्यायालयों के अपीली-भाग की कार्यवाहियों में उद्गृहणीय न्यायालय फीस की दरें 1867 के अधिनियम सं. 26 द्वारा नियत की गई थीं, और यह काफी हद तक तात्कालित था। यह स्वीकार करते हुए कि बढ़ी हुई न्यायालय फीसों और मुकदमेबाजी के बीच में प्रत्यक्ष संबंध था, कारणों और उद्देश्यों के कथन में आगे कहा गया कि : "दो वर्ष की अवधि में, जिसके दौरान ये प्रवृत्त रहे हैं, इसके कार्यकरण से प्राप्त अनुभव से यह प्रतीत होता है कि देश की सामान्य मुकदमेबाजी पर इसका निःसंदेह दबाबी प्रभाव पड़ा है। अतः यह समीचीन समझा गया है कि इस समय सिविल बादों पर प्रभार्य दरें सामान्यतः घटा दी जाए" और अधिकतम न्यायालय फीस के सिद्धांत पर पुनः लौटा जाए जो पूर्वतरविधि के अंतर्गत प्रवृत्त था। इस विधि द्वारा दाँड़िक न्यायालयों में, दाखिल किए जाने वाले कतिपय प्रतिवेदनों पर फीस को भी 'एक रुपए से आठ आना' घटा दिया गया और इस प्रकार 'कर्तिपय प्रांतों में स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा प्राप्त किए जा रहे कठोर आक्षेपों' के समक्ष झुका गया।"

सामान्यरूप से फीस घटाने के परिणामस्वरूप राजस्व की जो हानि होने की संभावना थी उसकी पूर्ति के लिए यह प्रस्तावित किया गया कि बादों के प्रथम संस्थापन पर उद्गृहीत रकम के किसी भी भाग को वापिस करने की प्रणाली को

समाप्त कर दिया जाए तथा भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के अधीन प्रोबेट और लैटर ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन पर प्रभार्य फीस में, 1860 के अधिनियम 27 के अधीन जारी किए जाने वाले प्रमाण पत्रों पर इंग्लिश विधि के अंतर्गत उसी प्रकार के मामलों में प्रभार्य मूल्यानुसार दरों तक तत्पश्चात् वृद्धि कर दी जाए।

1870 की विधि ने अप्रत्यक्षतः आदेशिका फीस की दशा में पक्षकारों के भेद-भाव न करने के सिद्धांत को भी मान्यता प्रदान की। उद्देश्यों और कारणों के कथन में कहा गया था कि "आदेशिका फीस की विद्यमान दरों के स्थान पर, जो उस न्यायालय से, जो आदेशिका जारी करता है, उस स्थान तक की दूरी के अनुसार भिन्न थी जहां आदेशिका तामील की जाए या निष्पादित की जाए, सभी मामलों में समान दर से फीस उद्गृहीत करने का प्रस्ताव है जो स्टांपों के रूप में ली जाएगी। इस प्रकार सभी बादकर्त्ताओं से आदेशिकाएं तामील करने के लिए नियुक्त कर्मचारिवृद्ध को रखने के लिए समान अनुपात में अंशदान अपेक्षित होगा और उसका कोई संबंध आदेशिका तामील करने में लगने वाले समय के अनुसार और उस व्यक्ति की ओर से, जिसके कहने पर आदेशिका तामील या निष्पादित की जाए, किए गए कार्य के निष्पादन के अनुसार नहीं होगा।"

यद्यपि न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 संपूर्ण ब्रिटानी भारत पर लागू था, 'न्यागमन अधिनियम, 1920 (1920 का अधिनियम सं. 38) ने प्रांतों और राज्यों को न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में तब संशोधन करने के लिए शक्ति प्रदान कर दी थी जब वह अधिनियम उस प्रांत/राज्य में लागू किया जाए।' न्यागमन अधिनियम, 1920 को 1938 के अधिनियम सं. 1 द्वारा निरसित कर दिया गया।

न्यायालय फीस के बारे में विधि बनाने की संसद् और राज्य विधान मंडलों की विधायी शक्तियां

(क) भारत सरकार अधिनियम, 1935 के प्रवृत्त होने के पश्चात् की स्थिति

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के प्रवृत्त होने के समय, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, प्रांतीय विधान मंडलों द्वारा संशोधित रूप में, संपूर्ण ब्रिटानी भारत सरकार पर लागू था। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के प्रवृत्त होने के बाद भी, इस अधिनियम की धारा 292 के आधार पर, जो निम्नलिखित रूप में है, 1870 का अधिनियम लागू रहा आया :

"भारत सरकार अधिनियम का इस अधिनियम द्वारा निरसन होते हुए भी, किन्तु इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, इस अधिनियम के भाग 3 के प्रारंभ होने के पूर्व ब्रिटानी भारत में प्रवृत्त सभी विधियां तब तक ब्रिटानी भारत में प्रवृत्त रही आएंगी जब तक सक्षम विधानमंडल व अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर दिया जाता या उसे निरसित या संशोधित नहीं कर दिया जाता।"

अब हमें वह विनिश्चित करना है कि वह कौन सा सक्षम विधानमंडल था जिसे न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में परिवर्तन या संशोधन करने का या उसे निरसित करने का हक था। सुसंगत उपबंध भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 100 में है। 1935 के उक्त अधिनियम की धारा 100 की उपधारा (1) के अनुसार, संघीय विधानमंडल को उक्त अधिनियम की सांतवी अनुसूची की सूची 1 में समिलित किसी भी विषय के संबंध में विधि बनाने के पूर्ण शक्ति है और उसकी उपधारा (3) के अधीन केवल प्रांतीय विधानमंडल को उक्त सांतवी अनुसूची की सूची 2 में विनिश्चित किसी भी विषय के संबंध में विधि बनाने की शक्ति है। न्यायालय फीस से संबंधित सुसंगत प्रविष्टि, सांतवी अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 1 थी जिसमें "संघीय न्यायालय के सिवाय सभी न्यायालयों में ली जाने वाली फीसें" समिलित थीं। इस उपबंध की दृष्टि से, प्रांतीय विधान मंडल उन न्यायालय फीसों से संबंधित विषयों की बाबत सक्षम विधानमंडल बन गया जो संघीय न्यायालय के सिवाय अन्य सभी न्यायालयों में देय थी। इस विषय में, मुम्बई उच्च न्यायालय ने मृदालाल बनाम हैफमैन लिमि. ए आई आर 1960 मुम्बई 98 में (पैरा 5) यह निर्णय दिया :

"अतः, न्यायालय फीसों के संबंध में विधि बनाने के लिए सक्षम विधानमंडल, प्रांतीय विधानमंडल था न कि संघीय या केन्द्रीय विधानमंडल क्योंकि धारा 100 की उपधारा (3) में ऐसा उपबंध है कि भारत सरकार

अधिनियम, 1935 के लागू होने के पश्चात् "न्यायालय फीस" स्पष्ट रूप से केवल प्रांतीय विधानमंडल की विधायी शक्ति के अंतर्गत है और संघीय विधानमंडल को ऐसी विधायी शक्ति नहीं थी। यह पूरी तरह स्पष्ट है कि केवल प्रांतीय विधानमंडल ही, भारत सरकार अधिनियम, 1935 के प्रवृत्त होने के पश्चात् न्यायालय फीस अधिनियम में परिवर्तन पर संशोधन कर सकता था या उसे निरसित कर सकता था।"

(ख) भारत के संविधान के लागू होने के पश्चात् स्थिति

जब भारत का संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, भारत सरकार, अधिनियम 1935 की धारा 292 के आधार पर, प्रवृत्त बना हुआ था जैसा कि पहले बताया जा चुका है। भारत के संविधान के लागू होने के पश्चात् भी उक्त अधिनियम भारत के संविधान के अनुच्छेद 372 के आधार पर लागू रहा आया।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 372 में उपबंध है कि संविधान पूर्व की सभी विधियां तब तक प्रवृत्त रही आएंगी जब तक सक्षम विधानमंडल द्वारा उनमें परिवर्तन या संशोधन नहीं कर दिया जाता या उन्हें निरसित नहीं कर दिया जाता किन्तु यह संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन हो। अनुच्छेद 352 का खंड (1) निम्नलिखित प्रकार से है :—

"372 विद्यमान विधियों का प्रवृत्त बने रहना और उनका अनुकूलन—

(1) अनुच्छेद 395 में निर्दिष्ट अधिनियमियों का इस संविधान द्वारा निरसन होने पर भी, किन्तु इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले भारत के राज्यक्षेत्र में सभी प्रवृत्त विधि वहां तब तक प्रवृत्त बनी रहेंगी जब तक किसी सक्षम विधान मंडल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसे परिवर्तित या संशोधित नहीं कर दिया जाता है।"

इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 372 का उद्देश्य संविधान के लागू हो जाने के पश्चात् सभी पूर्व विद्यमान विधियों को तब तक प्रवृत्त रखना था जब तक कि उन्हें सक्षम विधान मंडल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित, संशोधित या निरसित नहीं कर दिया जाए। (साउथ इंडिया कारपोरेशन बनाम राजस्व बोर्ड, ए आई आर 1964 एस सी 207) न्यायालय फीस अधिनियम, 1872 अनुच्छेद 366 के अर्थ में 'विद्यमान विधि' था। अनुच्छेद 372 के आधार पर वह भारत के संविधान के लागू होने के पश्चात् भी, निरंतर लागू अधिनियम था। अनुच्छेद 372 का निर्वचन करते हुए उच्चतम न्यायालय ने ऊपर उल्लिखित मामले में यह निर्णय दिया :

"किसी सक्षम प्राधिकारी द्वारा, भले ही उसकी विधायी सक्षमता संविधान के अंतर्गत समाप्त क्यों न हो गई हो, बनाई गई संविधान-पूर्व विधि, प्रवृत्त रहेगी, परन्तु यह तब जब ऐसी विधि संविधान के अन्य उपबंधों के विरुद्ध नहीं हो।"

संविधान-पूर्व विधि अपने मूल रूप में ही प्रवृत्त रह सकती है, और उसे केवल सक्षम विधान-मंडल या सक्षम प्राधिकारी द्वारा ही परिवर्तित, संशोधित या निरसित किया जा सकता है। अनुच्छेद 372(1) के निम्नलिखित शब्द इस बात को स्पष्ट कर देते हैं :

"विद्यमान विधि तब तक प्रवृत्त रहेगी जब तक सक्षम विधान मंडल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसे परिवर्तित या निरसित या संशोधित नहीं कर दिया जाता है।"

मुम्बई उच्च न्यायालय ने मै. बुदांलाल बनाम मै. गोकल एंड हैफमेन लिमि. (पूर्व उद्धृत) में कथन किया है कि :

"अतः, स्थिति वही है जो भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत थी और केवल राज्य विधानमंडल को ही उस राज्य में देय न्यायालय फीस की बाबत विधायी शक्ति थी अन्य किसी को नहीं।"

यह अभिनिश्चित करना आवश्यक है कि वह कौन सा सक्षम विधान मंडल है जिसे विभिन्न न्यायालयों में देय फीसों से संबंधित विधियां बनाने का हक है। इसी प्रकार से यह भी अभिनिश्चित करना है कि क्या अब संसद न्यायालय

फीस अधिनियम, 1870 में संशोधन कर सकती है जो कि मूलतः केन्द्रीय अधिनियम के रूप में अधिनियमित किया गया था।

संसद् और राज्य विधानमंडलों की शक्तियां

भारत के संविधान का अनुच्छेद 246(1) सांतवीं अनुसूची में सम्मिलित विषयों के संबंध में संसद् और राज्य विधानमंडलों की शक्तियों का उल्लेख करता है। केवल संसद् को सूची 1 (संघ सूची) में वर्णित किसी भी विषय के संबंध में विधियां बनाने की शक्ति है। संसद् सूची 3, अर्थात्, समवर्ती सूची में उल्लिखित किसी विषय के संबंध में भी विधियां बना सकती हैं। [अनु. 246(2)]। जहां तक सूची 2 (राज्य सूची) में वर्णित विषय में से किसी के संबंध में विधि बनाने का प्रश्न है, तो केवल राज्य विधानमंडल को ही विधियां बनाने की शक्ति है [अनु. 246 (3)]। तथात् संसद् केवल निम्नलिखित परिस्थितियों में 'राज्य सूची' में उल्लिखित विषय पर विधि अधिनियमित कर सकती है :—

- (क) ऐसी विधि जो भारत के संघ राज्य क्षेत्र के किसी भाग को, जो किसी राज्य में सम्मिलित नहीं, अर्थात्, संघ राज्य क्षेत्र, को लागू है [अनु. 246(4)]।
- (ख) जब राष्ट्रहित में यह आवश्यक है (अनु. 249)।
- (ग) जब आपात उद्घोषणा प्रवृत्त है (अनु. 250)।
- (घ) जब दो या अधिक राज्य इच्छा प्रकट करें और संकल्प पारित करें (अनु. 252)।
- (ड) अंतरराष्ट्रीय करारों आदि को प्रभावी करने के लिए (अनु. 253)।

भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 1ए 2ए और 3 में विनिर्दिष्ट प्रविष्टियों का संबंध 'न्यायालय फीस' से है और ये प्रविष्टियां निम्नलिखित प्रकार से हैं :—

सूची 1 (संघ सूची)

प्रविष्टि 77—"उच्चतम न्यायालय का गठन, संगठन, अधिकारिता और शक्तियां (जिनके अंतर्गत उस न्यायालय का अवमान है) और उसमें ली जाने वाली फीस; उच्चतम न्यायालय के सक्षम विधि-व्यवसाय करने के हकदार व्यक्ति।"

प्रविष्टि 96—"इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में फीस, किन्तु इसके अंतर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है।"

सूची 2 (राज्य सूची)

प्रविष्टि 3—"उच्च न्यायालय के अधिकारी और सेवक; भाटक और राजस्व न्यायालयों की प्रक्रिया; उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों में ली जाने वाली फीस।"

प्रविष्टि 66—"इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में फीस, किन्तु इसके अंतर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है।"

सूची 3 (समवर्ती सूची)

प्रविष्टि 11क—"न्याय प्रशासन; उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों से भिन्न सभी न्यायालयों का गठन और संगठन।"

प्रविष्टि 47—"इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में फीस, किन्तु इसके अंतर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है।"

उपरोक्त प्रविष्टियों से स्पष्ट है कि न्यायालय फीस का विषय, जहाँ तक उसका संबंध उच्चतम न्यायालयों और अन्य अधीनस्थ न्यायालयों में न्यायालय फीस से है, सूची 2 (राज्य सूची) की प्रविष्टि 3 में आती है।

सूची 1 की प्रविष्टि 96, सूची 2 की प्रविष्टि 66 और सूची 3 की प्रविष्टि 47क 'फीस' की बाबत हैं किन्तु किसी न्यायालय में ली जाने वाली 'फीस' को इन विनिर्दिष्ट प्रविष्टियों में से विनिर्दिष्टः अपवर्जित कर दिया गया है।

(क) उच्च न्यायालयों और अधीनस्थ न्यायालयों में संदेय न्यायालय फीस विषयक विधि

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि न्याय प्रशासन से संबंधित प्रविष्टि मूलतः सूची 2 की प्रविष्टि 3 थी किन्तु संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा उक्त प्रविष्टि 3.1.1977 से सूची 3 में रखी गई है। यद्यपि न्याय प्रशासन अब सूची 3 की प्रविष्टि 11क के अंतर्गत है, किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस का विषय, जिसे न्याय प्रशासन से संबद्ध कहा जा सकता है, ऊपर उल्लिखित सूची 3 की प्रविष्टि 47 के अंतर्गत प्रत्यक्ष वर्जन के कारण सूची 3 के अंतर्गत नहीं आता है। इस संवैधानिक संशोधन का प्रभाव नहीं रहता है, अर्थात्, जहाँ तक उच्च न्यायालयों और अधीनस्थ न्यायालयों का संबंध है, न्यायालय फीस के विषय पर विधायन की शक्ति राज्य विधानमंडलों की सक्षमता में ही है।

अस्तु, जहाँ तक संसद् का संबंध है, वह सूची 1 की प्रविष्टि 77 के साथ पठित अनु. 246(1) के अधीन, उच्चतम न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस के संबंध में विधि अधिनियमित कर सकती है, और वह, सूची 2 की प्रविष्टि 3 के साथ पठित अनु. 246(4) के अधीन, किसी संघ राज्य क्षेत्र में स्थित अन्य न्यायालयों में संदेय न्यायालय फीस के लिए भी अधिनियमित कर सकती है। परन्तु किसी राज्य में अधिकारिता का प्रयोग कर रही उच्च न्यायालयों और अन्य अधीनस्थ न्यायालयों के लिए न्यायालय फीस से संबंधित विधियाँ, सूची 2 की प्रविष्टि 3 के साथ पठित अनु. 246(3) के अनुसार, केवल राज्य विधानमंडल द्वारा ही बनाई जा सकती है।

(ख) उच्चतम न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस विषयक विधि

भारत के संविधान के अनु. 246(1) के साथ पठित सूची 1 की प्रविष्टि 77 के अनुसार, संसद् उच्चतम न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस के विषय में विधि बनाने के लिए सक्षम है। संसद द्वारा बनाई गई विधि के अधीन रहते हुए उच्चतम न्यायालय भी उच्चतम न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस के संबंध में नियम, संविधान के अनु. 145 के खण्ड (1) के उपखंड (च) के अधीन बना सकता है।

उच्चतम न्यायालय ने भारत के संविधान के अनु. 145 द्वारा प्रदत्त नियम बनाने की शक्ति का प्रयोग करते हुए नियम बनाए हैं जिनमें उच्चतम न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस से संबंधित नियम भी हैं। ये नियम 'उच्चतम न्यायालय नियम, 1966' के नाम से ज्ञात हैं और नियमों की तृतीय अनुसूची में उच्चतम न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस की सारणी दी गई है। तथापि, ये नियम संसद द्वारा बनाई गई विधि के अधीन हैं।

(ग) संघ राज्य क्षेत्रों के न्यायालयों में संदेय न्यायालय फीस विषयक विधि

जहाँ तक संघ राज्य क्षेत्रों पर अधिकारिता का प्रयोग करने वाले अन्य न्यायालयों में संदेय न्यायालय फीस का संबंध है, इसमें संदेह नहीं है कि संसद् भारत के संविधान के अनु. 246(4) के अधीन उसे प्रदत्त शक्ति के आधार कोई विधि अधिनियमित कर सकती है। अनु. 246(4) के अतिरिक्त, भारत के राष्ट्रपति भी संविधान के अनु. 2 अंतर्गत निम्नलिखित संघ राज्य क्षेत्रों में शांति, प्रगति और सुशासन के लिए विनियम बना सकते हैं :

- (क) अंदमान और निकोबार द्वीपसमूह
- (ख) लक्षद्वीप
- (ग) दादरा और नागर हवेली
- (घ) दमण और दीव
- (इ) पांडिचेरी

तथापि, पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्र के लिए कोई विनियम राष्ट्रपति द्वारा तब ही बनाया जा सकता है जब पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्र की विधानसभा विघटित कर दी गई हो या निलंबित हो।

संविधान के अनु. 240 के अंतर्गत राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार बनाया गया प्रत्येक विनियम संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि को, जो उस संघ राज्यक्षेत्र विशेष को लागू है जिसके लिए विनियम बनाया गया है, निरसित या संशोधित कर सकता है तथा राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार बनाया गया विनियम उसी प्रकार प्रवृत्त होगा और प्रभावी होगा जैसे संसद् का अधिनियम [अनु. 240 (2) देखिए]। उच्चतम न्यायालय की पांच न्यायाधीशों की एक पीठ ने टी.एम. कनियन वनाम आयकर अधिकारी पांडिचेरी ए आई आर 1968 एस सी 637 में संविधान के अनुच्छेद 240 का निर्वचन करते हुए यह मत व्यक्त किया है :

"अनु. 240 के स्पष्ट शब्दों द्वारा राष्ट्रपति विनिर्दिष्ट संघ राज्य क्षेत्रों में शांति, प्रगति और सुशासन के लिए विनियम बना सकते हैं। इस प्रकार बनाया गया कोई विनियम संसद द्वारा बनाए गए और उस राज्यक्षेत्र को लागू संसद के किसी अधिनियम को निरसित या उसमें संशोधन कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापित किए जाने पर विनियम उसी प्रकार प्रवृत्त और प्रभावी हो जाता है जैसे उस राज्यक्षेत्र को लागू कोई संसद का अधिनियम। राष्ट्रपति की विनियम बनाने की इस साधारण शक्ति का उन सभी विषयों पर विस्तार है जिन विषयों पर संसद् विधि बना सकती है।"

इस समय केवल सात राज्य क्षेत्रों को संघ राज्य क्षेत्र का दर्जा प्राप्त है। ये हैं :

- | | |
|----------------|----------------------------------|
| (1) दिल्ली | (2) अंदमान और निकोबार द्वीप समूह |
| (3) लक्षद्वीप | (4) दादरा और नागर हवेली |
| (5) दमण और दीव | (6) पांडिचेरी |
| (7) चंडीगढ़ | |

इन सात संघ राज्य क्षेत्रों में से दिल्ली और पांडिचेरी की अपनी विधान सभाएं भी हैं। ये विधान सभाएं भी संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 (राज्य सूची) में आने वाले किसी विषय पर विधि अधिनियमित करती हैं। [दिल्ली के लिए भारत के संविधान के अनु. 239क के खण्ड (3) का उपखंड (क) देखिए]। पांडिचेरी के लिए संघ राज्यक्षेत्र सरकार अधिनियम, 1963 की धारा 18 देखिए। तथापि, अनु. 246(4) के अंतर्गत संसद की शक्ति अक्षुण्ण है और संसद द्वारा बनाई गई कोई विधि उपर उल्लिखित विधान सभा द्वारा बनाई गई किसी विधि पर अभिभावी होगी। (भारत के संविधान के अनु. 239क के खण्ड (3) का उपखंड (ख) और (ग) तथा संघ राज्यक्षेत्र सरकार अधिनियम, 1963 की धारा 18(2) और धारा 21 देखिए)। वास्तव में, पांडिचेरी विधान सभा ने पहले ही पांडिचेरी न्यायालय फीस और वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1972 अधिनियमित कर दिया है।

संघ राज्य क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय

संविधान के अनु. 241 में उपबंध है कि संसद् विधि द्वारा किसी संघ राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय का गठन कर सकती है या किसी ऐसे राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय को उस राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय घोषित कर सकती है। संघ राज्य क्षेत्रों पर अधिकारिता रखने वाले उच्च न्यायालयों की विद्यमान स्थिति निम्नलिखित प्रकार से है :

- (1) दिल्ली—दिल्ली उच्च न्यायालय अधिनियम, 1966 द्वारा एक पृथक उच्च न्यायालय गठित कर दी गई है।
- (2) चंडीगढ़—पंजाब पुनर्गठन अधिनियम 1966 की धारा 29 के अनुसार, पंजाब और हरियाणा न्यायालय को चंडीगढ़ संघ राज्यक्षेत्र पर अधिकारिता प्रदान की गई है।

- (3) अंदमान और नीकोबार द्वीप समूह—कोलकाता उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार अंदमान और नीकोबार द्वीप समूह पर कोलकाता उच्च न्यायालय (अधिकारिता का विस्तार) अधिनियम, 1953 द्वारा कर दिया गया है।
 - (4) दादरा और नागर हवेली—मुम्बई उच्च न्यायालय की अधिकारिता का इस संघ राज्यक्षेत्र पर विस्तार दादरा और नागर हवेली अधिनियम, 1961 की धारा 11 द्वारा किया गया है।
 - (5) दमण और दीव—मुम्बई उच्च न्यायालय की दमण और दीव पर अधिकारिता है (गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 की धारा 20 देखिए)।
 - (6) लक्षद्वीप द्वीप समूह—राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 60 के अनुसार लक्षद्वीप द्वीप समूह पर केरल उच्च न्यायालय की अधिकारिता है।
 - (7) पांडिचेरी—पांडिचेरी (प्रशासन) अधिनियम, 1962 की धारा 4 के अनुसार इस संघ राज्यक्षेत्र पर मद्रास उच्च न्यायालय की अधिकारिता है।

वह रीति जिससे न्यायालय फीस विधि का समय-समय पर संशोधन किया जा रहा था

न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 मूलतः 'केन्द्रीय अधिनियम' के रूप में गवर्नर जनरल इन कांउसिल द्वारा पारित किया गया था और उसका विस्तार सम्पूर्ण ब्रिटानी भारत पर किया गया था। भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 292 की धारा पर उक्त अधिनियम प्रवृत्त होने के बाद भी संविधान के अनु. 372 के अनुसार प्रवृत्त बना हुआ है। न्यायगमन अधिनियम, 1920 ने उस समय प्रांतों को न्यायालय फीस अधिनियम में संशोधन करने की शक्ति प्रदान कर दी थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, न्यायालय फीस का विषय भारत सरकार अधिनियम, 1935 की सातवीं अनुसूची 2 की मद 1 में उल्लिखित था और उसी प्रकार से संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 3 के अनुसार न्यायालय फीस संवैधानिक स्कीम के अनुसार राज्य का विषय हो गया है। राज्य का विषय हो जाने के कारण, अनेक राज्यों ने न्यायालय फीस अधिनियम, 1879 में संशोधन किए हैं। कुछ राज्यों ने अपने राज्यक्षेत्र में इस केन्द्रीय अधिनियम को निरसित तक कर दिया है और न्यायालय फीस के लिए नया अधिनियम बना दिया है।

राज्य जिन्होंने न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को अपने राज्य क्षेत्रों में निरसित कर दिया है और अपने नए न्यायालय फीस अधिनियम बना दिए हैं

1. आंध्र प्रदेश—ए.पी. कोर्ट फीस एण्ड सूट्स वैल्यूएशन—एक्ट, 1956 (1956 का ए.पी. एक्ट सं 7)।
 2. गुजरात—गुजरात ए.एल. 1960 द्वारा यथागृहीत बाब्बे कोर्ट फीस एक्ट, 1959 (1959 का मुम्बई अधिनियम, सं. 36)।
 3. हिमाचल प्रदेश—हिमाचल प्रदेश न्यायालय फीस अधिनियम, 1968 (1968 का हि.प्र. अधिनियम सं. 3)।
 4. जम्मू-कश्मीर—जम्मू एण्ड कश्मीर कोर्ट फीस एक्ट, 1977 (1977 का ज.क. अधिनियम सं. 7)।
 5. कर्नाटक—कर्नाटक कोर्ट फीस एण्ड सूट्स वैल्यूएशन एक्ट, 1958 (1958 का कर्नाटक अधिनियम सं 16)।
 6. केरल—केरल कोर्ट फीस एण्ड सूट्स वैल्यूएशन एक्ट, 1960 (1960 का केरल अधिनियम सं. 10)।
 7. महाराष्ट्र—बाब्बे कोर्ट फीस एक्ट, 1959 (1959 का मुम्बई अधिनियम सं. 36)।

8. राजस्थान—राजस्थान न्यायालय फीस तथा वाद मूल्यांकन अधिनियम, 1961 (1961 का राजस्थान अधिनियम सं. 23)।

9. तमिलनाडू—तमिलनाडू कोर्ट फीस एण्ड सूटस वैल्यूएशन एक्ट, 1955 (1955 का तमिलनाडू अधिनियम सं. 14)।

10. पश्चिम बंगाल—वैस्ट बंगाल कोर्ट फीस एक्ट, 1970 (1970 का पश्चिम बंगाल अधिनियम सं. 10)

11. पांडिचेरी संघ राज्य क्षेत्र—पांडिचेरी कोर्ट फार्म्स एण्ड सूट्स वैल्यूएशन एक्ट, 1972 (1963 का पांडिचेरी अधिनियम सं. 6)।

निम्नलिखित राज्यों ने अपने-अपने राज्यों में यथा प्रवृत्त, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 के विभिन्न उपबंधों में समय-समय पर, संशोधन कर दिए हैं—

- | | | |
|-----------|-----------------|----------------|
| 1. असम | 2. बिहार | 3. मध्य प्रदेश |
| 4. उड़ीसा | 5. पंजाब | 6. हरियाणा |
| 7. मेघालय | 8. उत्तर प्रदेश | |

अन्य राज्यों में स्थिति

मणिपुर और त्रिपुरा—मणिपुर और त्रिपुरा पहले संघ राज्य क्षेत्र थे। संघ राज्यक्षेत्र (विधियां) अधिनियम,, 1950 की धारा 2 के अनुसार, केन्द्रीय सरकार किसी भी अधिनियम का, जो राज्य में प्रवृत्त था, दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र, हिमाचल प्रदेश (अब राज्य), मणिपुर (अब राज्य), त्रिपुरा (अब राज्य) विस्तार करने के लिए सशक्त है। इस शक्ति का प्रयोग करते हुए स्थायालय फीस अधिनियम, 1870 का, जैसा कि वह असम के राज्य में प्रवृत्त था, विस्तार जी, उस आर. सं. 1119-1120, तारीख 29-6-1963—भारत का राजपत्र 1-7-63 भाग II अनुभाग 3 (1) असाधारण, पृष्ठ 501 और 531 द्वारा उपांतरण सहित (15-7-63 से) कर दिया गया है। मणिपुर और त्रिपुरा अब उत्तर-पूर्वी क्षेत्र पुनर्गठन, अधिनियम, 1971 द्वारा राज्य बन गए हैं।

गोवा—गोवा का राज्य क्षेत्र पहले गोवा, दमण और दीव संघ राज्य क्षेत्र का भाग था। 1963 के विनियम सं. 11 द्वारा, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 का विस्तार गोवा, दमण और दीव पर कर दिया गया है। इस अधिनियम में 1966 के गोवा अधिनियम सं. 5 तथा 1970 के अधिनियम सं. 8 द्वारा और संशोधन किए गए हैं। गोवा अब गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 द्वारा राज्य बन गया है।

अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और नागालैण्ड—इन तीनों ही राज्यों के साज्य क्षेत्र पहले असम राज्य के भाग थे। व्यायालय फ्रीस अधिनियम, 1870, जैसा कि वह असम राज्य में लागू था, इन राज्यों में प्रवृत्त चला आ रहा है।

नागालैण्ड को नागालैण्ड अधिनियम, 1962 द्वारा राज्य बना दिया गया था। उक्त अधिनियम की धारा 26 के अनुसार, नागालैण्ड के राज्य क्षेत्र में जो विधियाँ प्रवृत्त थीं वे सभी प्रवृत्त बनी रहेंगी।

मिज़ोरम और अरुणाचल प्रदेश को उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 की धारा 6 और 7 द्वारा पृथक्-पृथक् संघ राज्य क्षेत्र बना दिए गए हैं। 1971 के उक्त अधिनियम की धारा 77 के अनुसार, इन राज्य क्षेत्रों में प्रवृत्ति सभी विधियां प्रवृत्त रही आएंगी।

अरुणाचल प्रदेश को अरुणाचल प्रदेश अधिनियम, 1986 द्वारा राज्य बनाया गया था। 1986 के इस अधिनियम की धारा 46 के अनुसार, इस राज्य क्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियां प्रवृत्त बनाए रखी गई हैं।

मिज़ोरम को मिज़ोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा राज्य बना दिया गया था। इस अधिनियम की धारा 43 के अनुसार, सभी विधियां जो मिज़ोरम के राज्य क्षेत्र में प्रवृत्त थीं, प्रवृत्त बनाए रखी गई हैं।

झारखंड, छत्तीसगढ़ और उत्तरांचल—ये राज्य पहले क्रमशः बिहार, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश के भाग थे। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, जैसा कि वह सन् 2000 में राज्यों के पुनर्गठन से पूर्व इन राज्यों में लागू था, बिहार पुनर्गठन अधिनियम, 2000 की धारा 84, मध्य प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम, 2000 की धारा 86 के अनुसार क्रमशः अब भी लागू रहा आएगा।

सिक्कम—संविधान (छत्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा, सिक्कम के राज्य क्षेत्र को भारत के राज्य क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया था और राज्य बना दिया गया था। भारत के संविधान के अनु. 371च के अनुसार सिक्कम में स्थित उच्च न्यायालय और अब न्यायालय विद्यमान बनाए रखे गए हैं। अनु. 371च के खंड (ज्ञ) और (ज)।

इसी प्रकार, सिक्कम में तत्समय लागू सभी विधियों का प्रवृत्त रखे रहने की घोषणा की गई थी। अनु. 371च का खंड (1)।

न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 जैसा कि संघ राज्यक्षेत्र को लागू है

1. **दिल्ली**—1939 के पंजाब अधिनियम सं. 4, 1953 के 31; 1957 के 19 और 1958 के 14 तथा 1949 के पूर्व पंजाब अधिनियम, सं. 26 द्वारा यथासंशोधित, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को सा.का.नि. 422 तरीख 21-3-1950 और सा.का.नि. 842 सन् 1959 द्वारा तारीख 1-8-1959 से दिल्ली पर विस्तारित कर दिया गया है—भारत का राजपत्र, 25-8-1959, भाग II, अनुभाग 3(i) पृष्ठ 1039 देखिए। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में जैसा कि दिल्ली में लागू है, न्यायालय फीस (दिल्ली संशोधन, अधिनियम, 1967 द्वारा 16-12-1967 द्वारा 16-12-1967 से और संशोधन किए गए हैं।
2. **चंडीगढ़**—चंडीगढ़ का राज्य क्षेत्र पहले पंजाब राज्य का भाग था। पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 के आधार पर एक पृथक राज्य संघ राज्य क्षेत्र बन गया। पुनर्गठन से पूर्व लागू विधियों को लागू रखा गया है।
3. **अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह**—भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत यह एक चीफ कमिशनर प्रांत था। पूर्व समय में इसे भारत के संविधान में संघ राज्य का भाग दिखाया गया था जो अब संघ राज्य क्षेत्र के रूप में ज्ञात हैं। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को, आमेलित राज्य (विधियां) अधिनियम, 1949 कर अनुसूची के साथ पठित धारा 3 द्वारा, नए प्रांतों पर (जो आज संघ राज्य क्षेत्रों के नाम से ज्ञात हैं) विस्तारित किया गया था। अंडमान और निकोबार द्वीप समूह के लिए न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 का न्यायालय फीस (अंडमान और निकोबार द्वीप समूह संशोधन) विनियम, 1957 (1957 का विनियम सं. 2) द्वारा संशोधन किया गया है।
4. **दादरा और नागर हवेली**—स्वतंत्र दादरा और नागर हवेली के राज्य क्षेत्र को संविधान (दसवां संशोधन) अधिनियम, 1961 द्वारा एक संघ राज्य क्षेत्र बना दिया गया था। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को 1963 के विनियम सं. 6 की धारा 3 द्वारा इस संघ राज्य क्षेत्र पर विस्तारित किया गया है।
5. **दमण और दीब**—न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को 1963 के विनियम सं. 11 द्वारा इस संघ राज्य क्षेत्र पर विस्तारित कर दिया है। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में 1966 के गोवा अधिनियम सं. 5 तथा 1970 के अधिनियम सं. 8 द्वारा संशोधित किए गए हैं।

6. **लक्ष्मीपूर्व**—यह भूतपूर्व मद्रास राज्य का भाग था इसे राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 6 द्वारा एक संघ राज्य क्षेत्र बना दिया गया। इसका पुराना नाम लैकाडाइव, मिनिकोय एण्ड अमीनडिवी आईलैंड था। यह लैकाडाइव, मिनिकोय एण्ड अमीनडिवी (आलटरेशन ऑफ नेम) एक्ट 1973 द्वारा लक्ष्मीपूर्व हो गया। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को इस द्वीप पर 1965 के विनियम सं. 8 की धारा 3(1) द्वारा विस्तारित कर दिया गया है (पूर्व उल्लिखित, 1973 का अधिनियम सं. 34 भी देखिए)।

7. **पांडिचेरी**—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्र की विधान सभा ने 'पांडिचेरी कोर्ट फीस एण्ड सूदस वैल्यूएशन एक्ट, 1972' अधिनियमित किया है। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, जो पांडिचेरी में लागू था, पूर्व उल्लिखित, पांडिचेरी एक्ट की धारा 72 द्वारा निरसित कर दिया गया है।

विद्यमान केन्द्रीय और राज्य विधियों के पूर्वोक्त सर्वेक्षण का निष्कर्ष निम्नलिखित है :—

(1) जहां तक उच्च न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों का संबंध है, न्यायालय फीस के विषय में विधि बनाने की शक्ति राज्य विधानमंडलों की क्षमता में है। अनेक राज्यों ने न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में संशोधन कर दिए हैं। कुछ राज्यों ने अपने राज्य क्षेत्र में केन्द्रीय अधिनियम को निरसित भी कर दिया है और न्यायालय फीस के लिए नये अधिनियम बना लिए हैं।

(2) जहां तक संसद् का संबंध है, सूची 1 की प्रविष्टि 77 के साथ पठित अनु. 246(1) के अधीन, संसद् उच्चतम न्यायालय में देय न्यायालय फीस के संबंध में तथा किसी संघ राज्य क्षेत्र में स्थित अन्य न्यायालयों के संबंध में, सूची 2 की प्रविष्टि 3 के साथ पठित अनु. 246(4) के अधीन विधि अधिनियमित कर सकती है।

(3) किसी राज्य में अधिकारिता का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय और अन्य अधीनस्थ न्यायालयों के लिए, न्यायालय फीस से संबंधित विधियां राज्य के विधानमंडल द्वारा, सूची 2 की प्रविष्टि 3 के साथ पठित अनु. 246(3) के अनुसार बनाई जा सकती है।

(4) उच्चतम न्यायालय नियम, जिनके अंतर्गत उच्चतम न्यायालय में संदेय फीस से संबंधित नियम भी है, संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन है।

(5) जहां तक संघ राज्य क्षेत्रों का संबंध है, संसद् अनु. 246(4) के अंतर्गत कोई विधि अधिनियमित कर सकती है और राष्ट्रपति भी अनुच्छेद 240 के अंतर्गत विनियम बना सकते हैं।

इस आधारभूत संवैधानिक और विधायी ढांचे की परीक्षा करने के पश्चात्, जिसके अंतर्गत न्यायालय फीस से संबंधित विधियां अधिनियमित और प्रवृत्त की जाती हैं, अब हम उन कानूनी समस्याओं पर विचार करेंगे जो केन्द्र या राज्यों द्वारा विधायी उपायों से न्यायालय फीस की संरचना में फेरफकार करने के कारण उत्पन्न होती हैं। ऐसा करते समय, सर्व प्रथम यह समझना महत्वपूर्ण है कि ऐसे उद्ग्रहण की प्रकृति क्या है तथा न्याय तक पहुंचने के संवैधानिक अधिकार के संदर्भ में उसका क्या औचित्य है।

अध्याय IV

क्या न्याय प्रशासन का खर्च वसूल करने के लिए न्यायालय फीस में वृद्धि की जा सकती है? (आयोगों, समितियों, न्यायालयों आदि के विचार)

इस अध्याय में हमारे सामने हमारे विचार के लिए प्रस्तुत मुख्य विवादिक यह है :

न्याय, सिविल और दाइडिक प्रशासन के विद्यमान खर्च को ध्यान में रखते हुए, क्या वर्तमान न्यायालय फीस में वृद्धि करना उचित है? परन्तु हम देखते हैं कि ऐसा प्रश्न शायद उन बहुत से अन्य पूरक प्रश्नों को, जो उत्पन्न होते हैं, आच्छादित कर लेता है। अतः हम निम्नलिखित प्रश्न उठाकर और उनका उत्तर देने का प्रयास करके प्रस्तुत प्रश्न का समर्थन करने का प्रस्ताव करते हैं :

- (क) क्या न्यायालय फीस एक फीस है या एक कर है? इस का उत्तर मूल प्रश्न के समर्थन को रूप देगा कि क्या न्यायालय फीस न्याय के प्रशासन के खर्च को पूरा करने के लिए बढ़ाई जा सकती है या बढ़ायी जानी चाहिए?
- (ख) क्या न्याय तक पहुंचने के लिए कीमत चुकानी पड़ सकती है?
- (ग) क्या विवादिक दाइडिक न्याय के प्रशासन के संदर्भ में भिन्न उपचार की अपेक्षा करता है?
- (घ) क्या न्यायालय फीस का संग्रहण सिविल न्याय तक पहुंच में बाधा डालता है?
- (ङ) क्या न्यायालय फीस प्रभारित करना राज्य की ओर से उचित है?
- (च) क्या यह बेहतर न्याय प्रशासन के लिए अधिक धन प्रदान करने वाली सरकारों के लिए आवश्यक है?
- (छ) क्या न्यायालय फीस के पूर्ण उत्सादन के लिए पहले दिए गए सुझाव स्वीकार करने योग्य हैं?

उद्ग्रहणों को सामान्यतः दो विस्तृत प्रवर्गों में विभाजित किया जा सकता है; फीस और कर। डि.मार्को के अनुसार ('लोकवित्त के प्रथम सिद्धांत' पृष्ठ 78) 'फीस' व्यक्तियों या किसी वर्ग के लिए "विशेष फायदे और जनता के सामान्य फायदे की विशिष्ट सेवा के लिए प्रभार हैं या उस विनियमन के खर्च को पूरा करने के लिए प्रभार है जो मुख्यतः समाज को फायदा पहुंचाता है।"

'फीस' और 'कर' के मध्य धारणात्मक अन्तर के संबंध में उच्चतम न्यायालय के अनेक निर्णय हैं। यह इन निर्णयों से प्रकट होता है कि यदि महसूल का अनिवार्य स्वरूप यही है कि कोई विशेष सेवा नागरिकों के वर्ग के लिए तात्पर्यित रूप में आशयित है और सेवा प्रदान करने में इस प्रकार उधार ली गई रकम और उसमें अंतर्वलित खर्चों के बीच एक व्यापक और साधारण परस्पर संबंध हैं, महसूल "फीस" के स्वरूप में सम्मिलित हो जाएगा। परन्तु यह अपना उस रूप में स्वरूप खो देती है यदि राज्य की साधारण राजस्वों के लिए आशयित है और उन्हें समृद्ध बनाने के लिए आशयित है जो सरकार के साधारण प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किए जाने के लिए हैं। **मद्रास सरकार बनाम जेनिस लैम्पस** ए आई आर 1973 एस सी 724 में

उच्चतम न्यायालय की संवैधानिक न्यायपीठ ने अभिनिर्धारित किया है कि "न्यायालय में ली जाने वाली फीस कर नहीं है और करों के बराबर नहीं माना जा सकता (पैरा 30)। सिविल न्याय के प्रशासन में न्यायालय फीस और खर्च संग्रहण को चौंका देने वाले आंकड़े की समीक्षा करने के पश्चात् विधि आयोग ने 14वीं रिपोर्ट में कथन किया है कि वह न्यायालय फीस, जिसे प्रभारित किया जा रहा था, वास्तव में, बिल्कुल ही फीस नहीं थी और यह भारी कर था। इसे अनुज्ञेय नहीं माना गया था।"

न्याय तक पहुंच कीमत के बदले में नहीं हो सकती

उच्चतम न्यायालय की अभियुक्तियां

अध्याय 2 में, हमने 'न्याय तक पहुंच' का सिद्धांत निर्दिष्ट किया है। जिस प्रकार राज्य को देश के भीतर विधि और व्यवस्था बनाए रखने के लिए पुलिस बल को बनाए रखना पड़ता है और जिसके लिए कोई विशेष कर या फीस उद्गृहीत नहीं की जाती है, न्याय के प्रशासन के लिए कोई पद्धति प्रदान करने के लिए राज्य के कर्तव्य के बारे में स्थिति भिन्न नहीं है। हम एक बार पुनः उच्चतम न्यायालय की अभियुक्तियों का उल्लेख कर सकते हैं।

सेन्ट्रल कोल फील्ड्स लि. बनाम जायसवाल कोल कं., ए.आई.आर. 1980 एस सी 2125 में, न्या. कृष्णा अध्यर के माध्यम से बोलते हुए, यह संप्रेषण किया कि न्याय तक प्रभावी पहुंच पद्धति की मूलभूत अपेक्षाओं में से एक अपेक्षा है और अधिक न्यायालय फीस न्याय के विक्रय की कोटि में आता है। उनका कथन था कि (पैरा 2) —

"यह अति दयनीय है कि मैग्नाकार्टा का समर्थन होते हुए भी रूप्लो-अमेरिकन न्याय संबंधी प्रणाली और साथ-साथ स्वतंत्र भारत की न्याय प्रक्रिया—सिविल न्याय के प्रशासन पर सुधारात्मक खर्च रहित ऐसे किसी मुनाफाखोरी मापमान पर न्यायालय फीस के संदेय पर बल देगी कि उद्गृहण भारतीय गणतंत्र में न्याय के विक्रय की गंध प्रायः वहाँ आती है जहाँ विधि के समक्ष समानता गारंटीकृत संविधानिक मूल अधिकार है और विधिक प्रणाली अनुच्छेद 39क द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए निर्देशित की गई है कि न्याय सुनिश्चित करने के लिए आर्थिक.....निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए।" न्याय तक प्रभावी पहुंच का अधिकार उन नए सामाजिक अधिकारों में पहले अधिकार के रूप में तीसरी दुनिया में प्रकट हुआ है जिसमें लोक हित मुकदमा, समुदाय आधारित कार्यवाईयां और लोकहित में कार्यवाहियां भी हैं। इस प्रकार न्याय तक प्रभावी पहुंच किसी प्रणाली की अति मूल आवश्यकता-अति मूल 'मानवीय अधिकार' के रूप में देखी जा सकती है, जो विधिक अधिकारों को प्रत्याभूत करने के लिए तात्पर्यित है।"

विद्वान न्यायाधीश ने आगे यह संप्रेक्षण किया कि (पैरा 5) :

"राज्य को, और इसके पहले किसी दिन न्यायालय को, नीति और संवैधानिकता की दृष्टि से विचार करना पड़ सकता है कि क्या न्यायालय तक पहुंच के लिए ऐसी अधिक कीमत न्यायसंगत या वैध है।"

पी.एम. अश्वधानारायण शेट्टी बनाम कर्नाटक राज्य 1989 पूरक (1) एस सी सी 696 में, न्यायमूर्ति वैकटचलैय्या ने न्यायालय की ओर से बोलते हुए कहा कि किसी व्यक्ति से, जो पुलिस के समक्ष कोई शिकायत दर्ज करता है, इस आधार पर पुलिस की सेवाओं के लिए फीस का संदाय करने की प्रत्याशा नहीं की जाती है चाहे शिकायत का विषय धन के रूप में बड़ा है या छोटा। इसलिए न्याय के प्रशासन के मामले में भी, राज्य से विवादयुक्त विषय वस्तु की प्रकृति पर निर्भर करते हुए फीस संग्रहीत करने की अपेक्षा नहीं की जाती है। न्यायालय ने कल्पित हागबाई बनाम हागबाई में जो टिप्पणी की है हमने उसे अध्याय 2 में कोट किया है किन्तु यह उचित होगा कि कोटेशन को पुनः दोहराया जाए :

"यदि क्राउन को न्याय के लिए प्रभार लेना आवश्यक है तो फीस डाक फीस के समान कम होनी चाहिए, अर्थात् यह एक समान होनी चाहिए, चाहे यात्रा कितनी भी लम्बी हो। यह पक्षकार की गलती नहीं है कि किंग के

न्यायाधीशों के समक्ष उसकी दलील किसी अन्य दलील की अपेक्षा अवधारण के लिए न्यायालय में एक लम्बी सुनवाई की अपेक्षा होगी। वह न्याय के लिए मांग कर रहा है मकान किराए पर नहीं उठा रहा है।"

बाद में, भारत सरकार के सचिव बनाम पी. आर. सरीरामलु, 1996 (1) एस सी सी 345 में, न्यायालय ने यह बताया कि इस पर विवाद नहीं किया जा सकता कि न्याय का प्रशासन ऐसी सेवा है जिसे राज्य अपने नागरिकों को प्रदान करने के लिए बाध्य है।

विधि आयोग के मत

विधि आयोग ने न्यायिक प्रशासन के सुधार पर अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की है कि न्याय के प्रशासन के लिए तंत्र की व्यवस्था करना राज्य का प्राथमिक कर्तव्य है। इसने अध्याय 22 के पैरा 42 में निम्नवत् सिफारिश की है :—

"राज्य के प्राथमिक कर्तव्यों में से एक कर्तव्य यह है कि वह न्याय प्रशासन के लिए तंत्र की व्यवस्था करे और सिद्धांत के अनुसार राज्य के लिए यह उचित नहीं होगा कि वह न्यायालय में वादकर्ता पर फीस प्रभारित करे।"

विधि आयोग ने यह भी संप्रेक्षित किया कि (पैरा 8, अध्याय 22)

"आधुनिक कल्याणकारी राज्य किसी भी औचित्य के साथ किसी कीमत पर न्याय के वितरण का विक्रय नहीं कर सकता।"

न्यायालय फीस न्याय तक पहुंच के लिए एक सीमा और भयोपरापी भी है। इसी 14वीं रिपोर्ट में, विधि आयोग ने यह संप्रेक्षण किया था कि यदि न्यायालय तक पहुंच न्यायालय फीस के संदाय पर निर्भर करती है और यदि कोई व्यक्ति न्यायालय तक पहुंच पाने में असमर्थ है तो न्याय असमान बन जाता है। यह संप्रेक्षण किया गया (पृष्ठ 587) :

"इस प्रकार न्याय के प्रशासन में समानता हमारे संविधान का आधार बनाती है। ऐसी समानता विधिशास्त्र की सभी आधुनिक प्रणालियों और न्याय के प्रशासन का आधार है। विधि के समक्ष समानता में अनिवार्य रूप से यह धारणा अंतर्वलित है कि किसी कार्यवाही के सभी पक्षकारों के पास जिसमें न्याय की बांधा की गई है, न्यायालय तक पहुंच और न्यायालय में अपने मामलों को प्रस्तुत करने का समान अवसर होना चाहिए। परन्तु न्यायालयों तक पहुंच विधि द्वारा न्यायालय फीस के संदाय पर निर्भर रहते हुए बनाई जाती है और कुशल वकीलों की सहायता अधिकतर मामलों के उचित प्रस्तुतीकरण के लिए आवश्यक है। जहां तक कोई व्यक्ति किसी न्यायालय तक अपने दोषों का समाधान करवाने के लिए और किसी आपराधिक आरोप के विरुद्ध स्वयं की प्रतिरक्षा करने के लिए, पहुंच अभिप्राप्त करने में असमर्थ है, वहां न्याय असमान बन जाता है और विधियां, जो उसकी संरक्षा के लिए हैं, निर्व्वक्त हो जाती हैं और उस सीमा तक अपने उद्देश्य में असफल रहती है।"

विधि आयोग ने, 'ग्राम न्यायालय' पर अपनी 114वीं रिपोर्ट (1986) में पुनः यह संप्रेक्षण किया है कि विवादों के समाधान के लिए तंत्र उपलब्ध कराना प्रत्येक सरकार का मूलभूत कर्तव्य है। आयोग ने संप्रेक्षण किया कि (पृष्ठ 4.3) :

"प्रत्येक केन्द्रित सरकारी प्रशासन की यह मूल बाध्यता है कि वह अपनी ही अधिकारिता के भीतर उत्पन्न विवादों के समाधान के लिए तंत्र की व्यवस्था करे। कोई भी सभ्य सरकार इस उत्तरदायित्व से नहीं बच सकती। कोई सरकार अपने नागरिकों को किसी अविरत प्रक्रिया द्वारा अपने विवादों का समाधान ढूँढने में शाश्वत रूप से नहीं लगा सकती है जो मंहगी हो। इस मूल कर्तव्य को अपेक्षित वित्त की अनुपलब्धता के बहाने अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।"

सांविधानिक उपबंध

अब हम न्यायालय तक पहुंच की व्यवस्था करने के लिए राज्य की सहायता को दिए गए महत्व को रेखांकित करने के लिए संविधान के कुछ उपबंधों का उल्लेख करते हैं।

उद्देशिका एवं भारत के संविधान का अनुच्छेद 38 यह आदेश देते हैं कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था भरसक रूप से सुनिश्चित करेगा और उसकी संरक्षा करेगा जिसमें न्याय (सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक) इसके नागरिकों के लिए उपलब्ध होंगे। इस वचन को यथार्थ में बदलने के प्रयोजन के लिए, अनुच्छेद 39क संविधान के 42वें संशोधन के रूप में वर्ष 1976 में संविधान में पुरःस्थापित किया गया था। यह निम्नवत् है :—

"39क. समान न्याय और निःशुल्क विधि सहायता—राज्य सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र इस प्रकार काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और वह, विशिष्टता, यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या किसी अन्य रीत से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा।"

यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया बनाम रशयान उद्योग, ए आई आर 1990 कलकत्ता 146 में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद 38 और अनु. 39क में प्रतिष्ठापित तत्व, संविधान के भाग 4 में वर्णित सभी अन्य नीति निदेशक तत्व, देश के शासन में मौलिक हैं, और ये तत्व (अनुच्छेद 38 और अनुच्छेद 39क) न्याय के प्रशासन के लिए भी मौलिक समझे जाने चाहिए।

सार्वमौलिक मानव अधिकार घोषणा के अनुच्छेद 8 में यह उपबंध है कि :

"प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या विधि द्वारा उसके लिए गारंटीकृत मूल अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कार्यों के लिए सक्षम राष्ट्रीय अधिकरणों द्वारा प्रभावी उपचार का अधिकार है।"

इसी प्रकार, सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय कवेनान्ट का अनुच्छेद 2 का खंड (3) यह उपबंध करता है कि कवेनान्ट का प्रत्येक राज्य "यह सुनिश्चित करने का जिम्मा लेता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जिसको यथा मान्यताप्राप्त अधिकार या स्वतंत्रता का अतिक्रमण होता है प्रभावी उपचार उपलब्ध होगा और यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसे उपचार का दावा करने वाले किसी व्यक्ति को समक्ष न्यायिक प्रशासनिक या विधायी प्राधिकरणों द्वारा अवधारण का अधिकार उपलब्ध होगा और राज्य को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि वह न्यायिक उपचारों की संभावनाओं का विकास करें।"

उपरोक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि राज्य की मूल बाध्यताओं में से एक बाध्यता यह भी है कि न्याय के बेहतर प्रशासन के लिए एक प्रभावी मंच की व्यवस्था करे। जहां न्यायालय तक पहुंच इस बात पर निर्भर रहने के लिए बनाई जाती है कि मुकदमा लड़ने वाला व्यक्ति संदाय करने के लिए इच्छुक है, वहां यह हमारे देश की वास्तविकताओं के आधार पर, न्याय की पहुंच से वंचन के समतुल्य होगा। राज्य संभवतया अपेक्षित वित्त की अनुपलब्धता के बहाने सरल और वहनीय न्याय तक पहुंच की व्यवस्था करने के लिए अपनी सांविधानिक बाध्यता को अस्वीकार नहीं कर सकता।

दाण्डक न्याय प्रभुत्व संपन्न कृत्य है : कोई न्यायालय फीस संदेय नहीं

न्याय के प्रशासन में दो व्यापक अंग हैं (1) सिविल न्याय और (2) दाण्डक न्याय। विधि आयोग ने 'न्यायिक प्रशासन में अवसरचनात्मक सेवा के लिए संसाधन आबंटन' पर अपनी 127वीं रिपोर्ट (1998) में, सिविल और दाण्डक न्याय प्रणाली के बीच विभेद पर विचार विमर्श किया है। आयोग ने पैरा 5.1 में निम्नवत् संप्रेक्षण किया है :

“सिविल न्यायिक प्रणाली और दाण्डक न्याय प्रणाली के बीच सुभेदक विशेषता इस तथ्य में निहित है कि सिविल न्याय प्रणाली व्यक्तियों के बीच, व्यक्तियों और राज्यों के बीच, और राज्य और राज्यों के बीच भी जहाँ कोई पक्षकार उस पर किए जा रहे अन्याय की शिकायत करता है और उसके समाधान की मांग करता है, वहाँ यह प्रणाली समाधान के लिए मंच की व्यवस्था करती है दाण्डक न्याय प्रणाली का प्रशासन समाज के किसी विनियामक तंत्र के स्वरूप को सम्मिलित करता है जिसके द्वारा राज्य अपराध और दंड के अन्वेषण के लिए मंच की व्यवस्था करके समाज में अनुशासन का पालन करवाता है।”

सिविल और दाण्डक न्याय के प्रशासन की बाबत राज्य की बाध्यताएं तात्प्रकरण से भिन्न हैं। राज्य की बाध्यता की बाबत, जहाँ तक इसका संबंध दाण्डक न्याय के प्रशासन से है, विधि आयोग ने मुकदमेबाजी के खर्च पर अपनी 128वीं रिपोर्ट (1998) में सुझावः यह कथन किया कि दाण्डक न्याय का प्रशासन राज्य का, अपने प्रभुत्व संपन्न कृत्यों के भाग के रूप में बाध्यकर कर्तव्य है। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि यथावत् राज्य के प्रभुत्व सम्पन्न कृत्य का भाग होने के कारण, इसका निष्पादन करने के लिए कोई फीस उद्दृढ़ीत नहीं की जा सकती है और इस कारण भी कि प्रणाली मुकदमा लड़ने वाले व्यक्ति के लिए कोई सेवा प्रदान नहीं करती। आयोग ने पैरा 3.11 में निम्नवत् कहा है :—

“यह राज्य ही है जिसे अवश्य ही आंतरिक शांति सुनिश्चित करनी चाहिए। यह इसके कर्तव्य का भाग है कि वह विनियामक अध्युपाय अंगीकृत करे और यह समान रूप से इसके कर्तव्य का भाग है कि वह अवधारण करने के लिए मंच स्थापित करे चाहे विनियामक अध्युपायों का अतिक्रमण हुआ है या नहीं और दंड अधिरोपित किए जाने की आवश्यकता है या नहीं। यह राज्य पर उसके संप्रभुत्व सम्पन्न कृत्यों के भाग के रूप में बाध्यकर है। इसे विस्तार से “दाण्डक न्याय का प्रशासन” पद में सम्मिलित किया जा सकता है। मामूली तौर पर, यह राज्य के संप्रभुत्व संपन्न कृत्यों का भाग होने के कारण, इसका निष्पादन करने के लिए कोई फीस उद्दृढ़ीत नहीं की जा सकती है और इस कारण भी यह प्रणाली मुकदमा लड़ने के लिए कोई सेवा प्रदान नहीं करती है।”

पहले विधि आयोग ने, 14वीं रिपोर्ट में यह भी सिफारिश की थी (पृष्ठ 508) कि लोक न्याय (दाण्डक न्याय) के प्रशासन का खर्च पूर्णतः राज्य को वहन करना चाहिए। विधि आयोग ने 127वीं रिपोर्ट (पैरा 5.1) में यह भी कहा है कि यह राज्य का कर्तव्य और बाध्यता है कि वह दाण्डक न्याय के प्रशासन के लिए न्यायालय स्थापित करे। राज्य को अवश्य दाण्डक न्याय के प्रशासन के संपूर्ण खर्चों का संदाय करना चाहिए।

सिविल न्याय—न्यायालय फीस का संग्रहण न्यायालय तक पहुंच में बाधा नहीं हो सकता

इस विषय पर सामान्यतः इस अध्याय में विचार विमर्श किया गया है और प्रश्न चाहे वह सिविल न्याय से संबंधित है या नहीं पूर्ण खर्च की वसूली की जानी चाहिए या नहीं है, अध्याय 5 में पृथक रूप से चर्चा की गई है।

सिविल न्याय प्रणाली की बाबत, विधि आयोग ने मुकदमेबाजी के खर्च पर अपनी 128वीं रिपोर्ट (1998) में पैरा 3.12 में निम्नवत् संप्रेक्षण किया है :—

“जब सिविल न्याय की बात आती है तो दृष्टिकोण को बदलना होता है। सिविल विवादों में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और व्यक्तियों और व्यक्तियों के समूह के बीच, एक पक्ष के व्यक्तियों के समूह और दूसरे तरफ के व्यक्तियों के समूह के बीच और एक तरफ व्यक्तियों और व्यक्तियों के समूह तथा दूसरी तरफ राज्य के बीच विवाद सम्मिलित हैं। मूल अधिकारों तथा परिसंघ और राज्यों में शक्ति के विभाजन पर इस अध्याय सहित संविधान लेखन (ऐवेमेव लेखन) में अस्तित्व में आने वाले विवादों के लिए फलदायक आधार की व्यवस्था की गई है। इन विवादों का समाधान करना है क्योंकि कोई निरन्तर अंदर ही अंदर उत्पन्न होने वाला विवाद समाज के विकास और उन्नति के लिए सहायक नहीं है। तथापि जब विवाद दो व्यक्तियों, मान लो नियोजक और कर्मचारी, किसी पति और पत्नी के बीच है या एक ही परिवार के सदस्यों के बीच है तो उनको यह छूट है कि वे विवाद का समाधान करवाने के लिए

अपना ही मंच चुनें। विवाद के समाधान के लिए पत्रकारों द्वारा नियुक्त कोई मध्यस्थ न्यायालय के स्वरूप में सम्मिलित है, क्योंकि पक्षकार अपने विनिश्चय को आबद्धकर मानने के लिए सहमत हो जाते हैं। ऐसे मध्यस्थ का खर्च उन पक्षकारों द्वारा बहन किया जाना है जो मध्यस्थ के विवादों को निर्दिष्ट करने के लिए सहमत होते हैं। मध्यस्थ विवादों के लिए सेवा प्रदान करता है और फीस प्रभारित करता है। राज्य की स्थिति भी मध्यस्थ की स्थिति जैसी है। सभी पक्षकार किसी मध्यस्थ की तलाश में लगातार नहीं चल सकते हैं। किसी विवाद के पक्षकार माध्यस्थम के लिए सहमत नहीं होते हैं। अतः राज्य सिविल न्याय के प्रशासन के लिए न्यायालयों की स्थापना करता है जिस पद में सभी विवाद, उन विवादों को छोड़कर जो दाण्डक न्याय के प्रशासन में सम्मिलित हैं, सम्मिलित होंगे। न्यायालय शिकायत करने वाले किसी पक्षकार के लिए उसके अधिकार के अतिक्रमण या उसके अधिकार के वंचन के लिए तुरन्त प्राप्त मंच होगा और वह न्यायालय पहुंच सकता है, अपनी व्यथा के निवारण की मांग कर सकता है। न्यायालय न्यायिक शक्तियों का उपयोग करता है और विवाद के अन्य पक्ष को हाजिर करा सकता है तथा विवाद को न्याय निर्णीत कर सकता है। फिर भी, न्यायालय सेवा प्रदान करता है। और उस सीमा तक यही वह सेवा फीस है जो सेवा के लिए प्रभार्य है।”

उच्चतम न्यायालय ने उल्लेख किया है कि जब फीस सिविल न्याय के प्रयोजनों के लिए संगृहीत की जा सकती है तो इसे न्यायालय फीस संगृहीत करने की बाध्यता के साथ नहीं समझना चाहिए। ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। पी.एम. अश्वधानारायण शेट्टी बनाम कर्नाटक राज्य (पूर्वोक्त) में स्पष्टतः यह संप्रेक्षण किया गया (पैरा 96) :

“किसी फीस के राजवित्तीय स्रोत के माध्यम से निधियां लेने की शक्ति को ऐसा करने के लिए अनिवार्यता के साथ नहीं समझाना चाहिए। जबकि “फीस” से सेवाओं का खर्च अभिप्रेत है, साधारण राजस्वों के भाग के रूप में साधारण लोक उपयोगिता के उद्देश्यों के लिए लागू नहीं की जा सकती है सामान्य लोक राजस्व के साथ सिविल न्याय के प्रशासन पर खर्चों को पूर्णतः या पर्याप्त भाग को पूरा करने के लिए उचित रूप से उपयोग किए जा सकते हैं। (बल दिया गया)।”

विधि न्यायिक सेवाओं के लिए न्यायालय फीस प्रभारित करना राज्य की ओर से उचित है?

(आयोगों के मत, न्यायिक अभियुक्त, विधिवेत्ताओं के मत)

यह कहने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि न्यायिक सेवाएं प्रदान करने के लिए न्यायालय फीस प्रभारित करने की अधारणा आज ज्यादा स्वीकार्य नहीं है।

विधि आयोग की रिपोर्ट

इस संबंध में, 14वीं रिपोर्ट में की गई विधि आयोग की निम्नलिखित सिफारिशों भी उल्लेखनीय हैं :—

“(1) राज्य के प्राथमिक कर्तव्यों में से एक प्राथमिक कर्तव्य यह भी है कि वह न्याय के प्रशासन के लिए तंत्र की व्यवस्था करे और सिद्धांतः राज्य के लिए यह समुचित नहीं है कि वह न्यायालयों में वादकर्ताओं पर फीस प्रभारित करे।

(2) भले ही न्यायालय फीस क्यों न ले पर वह राजस्व सिविल न्याय के प्रशासन के खर्च से अधिक नहीं होना चाहिए।

(3) राज्य न्याय प्रशासन में से लाभ कमाए यह उचित नहीं है।

(4) न्यायालय फीस को कम करने के उपाय किए जाने चाहिए ताकि इससे प्राप्त राजस्व सिविल न्यायिक स्थापन के खर्च को पूरा करने के लिए पर्याप्त हो सके। उन सिद्धांतों के सदृश सिद्धांत जो इग्लैण्ड में लागू किए जाते हैं ऐसे स्थापन के खर्च का मूल्यांकन करने के लिए लागू किए जाने चाहिए। न्याय अधिकारी के वेतन साधारण कर दाता पर प्रभारित किए जाने चाहिए।”

विधि आयोग ने मुकदमे के खर्च पर अपनी 128वीं रिपोर्ट (1988) में यह संप्रेक्षण किया है कि मुकदमे का अधिक खर्च न्याय की उपलब्धता में अड़चनों या बाधाओं में से एक अड़चन या बाधा है। न्यायालय फीस मुकदमे के खर्च का एक अति महत्वपूर्ण घटक समझा जाता था।

न्यायिक अभिव्यक्ति

पी. एम. अश्वधानारायण शेट्टी बनाम कर्नाटक राज्य (ऊपरि) में अभिव्यक्ति न्याय तक पहुंच पर एक बंधन के रूप में न्यायालय फीस के बारे में उच्चतम न्यायालय का मत स्मरणीय है।

न्यायालय ने कहा :

“न्याय तक पहुंच पर बंधन के रूप में न्यायालय फीस जिसमें अतिभावुक जटिलता अंतर्वलित है और ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बढ़ाने वाला विषय भी जिसमें न्याय समाज में सभी वर्गों के सभी नागरिकों, को, उन दोनों को जो समृद्ध हैं और वे जो अपनी निर्धनता से पीड़ित हैं, पहुंच के भीतर लाएगा ‘यह कहा जाता है कि समानता, और इसके स्वाभाविक परिणाम सहित औचित्य के आधार पर, सभी को सिविल न्याय उपलब्ध कराने के लिए उस उद्बोधक आह्वान की तरह है कि कोई भी व्यक्ति उसकी उस तक पहुंच न होने के कारण अन्याय से ग्रस्त नहीं होना चाहिए या न्याय की प्राप्ति से अवरुद्ध नहीं हो। न्याय की प्राप्ति की जरूरत, विवादों को सुलझाने के न्यायिकोत्तर और हिंसात्मक उपायों की तरफ झुकाव के अप्रोत्साहक के रूप में समाज में व्यवस्था बनाए रखने की आदिम आवश्यकता को मान्यता देता है।’’

न्यायालय ने आगे यह संप्रेक्षण किया है :

“निःसंदेह न्यायालय फीस की वृद्धि न्याय की अबाध प्राप्ति के लिए भयोपरापी है।

न्यायालय ने यह भी कहा :

“वास्तव में सभी सभ्य सरकारें न्याय तक पहुंच को मुक्त होने को मान्यता देती हैं।”

न्यायालय ने यह भी संप्रेक्षण किया (पैरा 95) :

“न्यायालय फीस का उद्गृहण मूल्यानुसार 10 प्रतिशत की दर पर रखना कठोर है और इसमें बहुत से विपद्ग्रस्त मुकदमेबाजों की पहुंच से बाहर न्याय को मंहगा करने की प्रवृत्ति है। राज्य की नीति निर्देशक तत्व, यद्यपि न्यायालयों में लड़ाई से संबंधित नहीं हैं फिर भी देश के शासन का मूल हैं। वे कल्याणकारी राज्य में न्याय को स्थान प्रदान करते हैं। लघु मामलों में और बड़े मामलों में भी ऊपरी सीमा रहित न्यायालय फीस की ऐसी ऊची दरों का विहत किया जाना मनमानी और असंवैधानिक है। वास्तव में, राज्य के कार्यकलायों की दृष्टि से राज्य अपने न्यायालयों में न्याय के मंहगा होने को खत्म करने में समर्थ हैं।”

विधिवेत्ताओं के मत

न्याय तक पहुंच की आवश्यकता का विद्वान लेखक कैपेलेटी द्वारा उसकी पुस्तक “न्याय तक पहुंच” खंड I पुस्तक-I में वर्णन किया गया है। उनका कहना है कि (पृष्ठ 419) :

“न्याय तक पहुंच की आवश्यकता को दौहरे रूप में कहा जा सकता है; पहले हमें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि नागरिकों के अधिकारों को मान्यता दी जाए और उन्हें प्रभावी बनाया जाए क्योंकि अन्यथा वे वास्तविक नहीं रहेंगे

बल्कि मात्र भ्रामक रह जाएंगे; और द्वितीय हमें विधिक विवादों, कलहों और शिकायतों को जो समाज में अपरिहार्य रूप से पैदा होती हैं, मामले का न्याय के अनुसार सुव्यवस्थित ढंग से समाधान करने में समर्थ होना चाहिए जिससे समाज में सौहार्द और शांति का संवर्धन हो सके, जिससे समाज में असंतोष और उपद्रव न पनपे और न फैले।

वास्तव में, ‘न्याय की प्राप्ति अभिव्यक्ति ऐसी सामाजिक आवश्यकता की संगत और शक्तिशाली अभिव्यक्ति है जिसे सामान्यतः स्वीकार किया जाता है, और वह अत्यावश्यक, अत्यधिक महत्वपूर्ण और अतिव्यापक है।’

हाल ही में, न्यायमूर्ति वी. के. कृष्णाअच्यर ने, 10 अक्टूबर, 2003 के “दि हिन्दू” में प्रकाशित लेख में कहा है कि :

“न्याय तक पहुंच पर बंधन के रूप में न्यायालय फीस जिसमें अतिभावुक जटिलता अंतर्वलित है और ऐसी तब तक बने रहते हैं जब तक सामान्य लोगों के लिए उपचार पाने के प्रभावी साधन और विधि तथा न्याय के फल का आनंद लेने के लिए न्यायालय तक पहुंच न हो।”

भारत में न्यायालय फीस की ऊची रकम के संबंध में, मद्रास के पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति ने निम्नलिखित संप्रेक्षण किया :

“वे (मुकदमा लड़ने वाले व्यक्ति) अधिक न्यायालय फीस का संदाय करते हैं और प्रश्न यह नहीं है कि समग्र रकम उसकी तुलना में कहीं अधिक है जो सिविल न्याय के प्रशासन के कुल खर्च को पूरा करने के लिए आवश्यक है। जब मैं भारत आया, मैं अधिक न्यायालय फीस पर हैरान था जिसकी मुकदमा लड़ने वाले व्यक्तियों से संदाय करने की अपेक्षा की जाती थी। यह स्थिति इंग्लैण्ड में भिन्न है। मद्रास लॉ जर्नल 1947 खंड I जर्नल”

विद्वान लेखक फाइन्ले शिरीस ने अपनी “लोक वित्त का विज्ञान” पुस्तक खंड II पृष्ठ 674-675 में निम्नलिखित संप्रेक्षण किया :

“फीस, लोकहित में की गई सेवाओं के संपूर्ण खर्च का दुर्लभ मामलों में प्रायः एक भाग खर्च करने के लिए और फीस संदायकर्ता के रूप में लाभ की कुछ मात्रा प्रदत्त करने के लिए उदगृहीत की जाती है।”

प्रसिद्ध विधिवेत्ता एच. एम. सीरवाई द्वारा भी अपनी पुस्तक भारत की सांविधानिक विधि, तीसरा संस्करण, खंड-2 पृ. 1958 में अधिक न्यायालय फीस उदग्रहण करने की आलोचना की गई है। उनका संप्रेक्षण है कि न्यायालय फीस दबे हुए वाले या कार्यवाहियों के लिए एक शस्त्र नहीं होना चाहिए और यद्यपि न्यायालय फीस नियत करने में खर्च खत्म पर ध्यान दिया जाना चाहिए। “ऐसी स्थिति तब आ जाती है जब बड़ी रकम न्याय तक पहुंच नहीं रहने देती है।”

न्याय के बेहतर प्रशासन के लिए सरकारें द्वारा अधिक धन प्रदान करने की आवश्यकता

(क) उच्चतम न्यायालय, विधि आयोग और न्यायिक वेतन आयोग के मत

आवश्यकता यह है कि जितनी भी रकम न्यायालय फीस के रूप में संगृहीत की जाती है न्याय के प्रशासन पर खर्च की जानी चाहिए। उच्चतम न्यायालय ने यह संप्रेक्षण किया कि न्यायालय फीस से प्राप्त आय विधि और न्याय मंत्रालय द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार न्याय के प्रशासन में किए गए खर्च से अधिक है। न्यायालय फीस की अवधारणा का विश्लेषण करने और ए आई आर 1973 एस सी 724 में रिपोर्ट किए गए संविधान न्यायापीठ के निर्णय को उद्धृत करने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने आल इण्डिया जजेज ऐसोसिएशन बनाम यूनियन आफ इंडिया ए आई आर 1992 एस सी 164 में निम्नवत संप्रेक्षण किया (पैरा 51) :

“हम इन निर्णयों और न्यायालय के मतों की ओर इस अभिमत के समर्थन के लिए ध्यान देते हैं कि जो भी रकम न्यायालय फीस के रूप में संग्रहीत की जाती है उसे राज्यों के साधारण राजस्व के स्रोत के रूप में उपयोग किए जाने की बजाए कम से कम न्याय के प्रशासन पर तो खर्च किया जाना चाहिए। निःसंदेह, न्यायालय फीस से प्राप्त आय न्याय के प्रशासन पर किए गए खर्च से अधिक है। विधि और न्याय मंत्रालय के प्रकाशन में उपलब्ध आंकड़ों से यह सुस्पष्ट है।”

राज्य, न्याय के प्रशासन पर अधिक खर्च नहीं कर रहे हैं। विधि आयोग ने न्यायिक प्रशासन में अब संरचनात्मक सेवाओं के लिए संसाधन आबंटन पर अपनी 127वीं रिपोर्ट (1988) में यह कहा (पैरा 5, 8) : “यह उल्लेख करना आवश्यक है कि राज्य आज बहुत कम खर्च करते हैं, या तो कहा जाए व्यावहारिक रूप से न्याय के प्रशासन पर कुछ खर्च नहीं करते।” आयोग ने यह उल्लेख किया कि मणिपुर और त्रिपुरा राज्यों को छोड़कर 1981-82 के दौरान अधिकांश राज्य न्याय के प्रशासन पर राज्य की कुल कर प्राप्तियों का 0.15 प्रतिशत (ए. पी.) से 3.53 प्रतिशत तक के बीच ही खर्च करते हैं। ये आंकड़े दर्शाते हैं कि न्याय के प्रशासन के अनुरक्षण और विकास के लिए नगण्य निधियां प्राप्त की हैं। न्यायमूर्ति के जे. शेट्टी की अध्यक्षता वाले पहले राष्ट्रीय वेतन आयोग ने तारीख 11-11-1999 की अपनी रिपोर्ट में यह कहा है कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुसार भारत में न्यायपालिका पर खर्च सापेक्षता: कम है। यह 0.2 प्रतिशत से अधिक नहीं है। न्यायमूर्ति शेट्टी आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि क्योंकि न्याय का प्रशासन केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों का संयुक्त उत्तरदायित्व है, प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय सरकार अधीनस्थ न्यायालयों पर उच्चतम न्यायालय के वार्षिक खर्च का आधा खर्च बांटती है। आल इण्डिया जजेज एसोसिएशन केस (2002-04 एस सी सी 247 में यह कहा गया है कि निःसंदेह जब कभी राज्य सरकार और अधिक निधियों के लिए केन्द्रीय सरकार या योजना आयोग के पास पहुंचे तो ऐसे अनुरोध पर अनुगृहीत पूर्वक विचार किया जाए।

(ख) राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण पुनर्विलोकन आयोग के मत

निःसंदेह, न्यायपालिका योजना आयोग द्वारा योजनागत विषय के रूप में सम्मिलित की गई है (न्यायमूर्ति सावंत आल इण्डिया जजेज केसिस, 1993 (4) एस सी सी 288 पृ. 310) किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुदान दिए जाने की रीति की राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण पुनर्विलोकन आयोग द्वारा आलोचना की गई है। “भारतीय न्यायपालिका की वित्तीय स्वायत्ता” पर परामर्श पत्र में, योजनागत विषय के रूप में न्यायपालिका को सम्मिलित करने के बारे में 1993 (4) एस सी सी 288 में न्यायमूर्ति सावंत के संप्रेक्षण का वर्णन करने के पश्चात् राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण पुनर्विलोकन आयोग ने कहा (पैरा 9.15.2.) :

“न्यायालय खर्च के लिए केन्द्र द्वारा कोई अनन्य अनुदान नहीं है। वह सब जो हमारे पास है, जनसंख्या के आधार पर प्रत्येक राज्य के लिए राशियां आबंटित करते समय योजना आयोग द्वारा न्यायालयों के लिए तैयार की गई केन्द्रीय रूप से प्रायोजित स्कीम नगण्य है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान स्कीम कुछ नहीं बल्कि एक दिखावा बनकर रह गई है क्योंकि यह राज्यों से तुल्य अनुदान प्रदान करने की अपेक्षा करती है। अधिकतर राज्य तुल्य अनुदान प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं और परिणाम यह होता है कि केन्द्रीय अनुदान व्यपगत हो जाते हैं। योजनागत विषय के रूप में न्यायपालिका का तथाकथित समावेश बिल्कुल ही अवास्तविक, अनियोजित तथा निम्नतम स्तर है और अपीली तथा वरिष्ठ न्यायालयों के स्तर पर भी असंबद्ध है।”

इसके बावजूद भी, हमारे देश में न्याय के प्रशासन के लिए कोई उचित नियोजन और पर्याप्त वित्तीय सहायता नहीं है। इस संबंध में राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण पुनर्विलोकन आयोग ने अपनी रिपोर्ट (खंड 1) में निम्नवत संप्रेक्षण किया (पैरा 7.6.1) :

“देश में न्यायिक प्रशासन, अधिक न्यायालयों की स्थापना के लिए उचित नियोजन तथा पर्याप्त वित्तीय सहायता तथा उन्हें पर्याप्त अवसंरचना की व्यवस्था प्रदान करने के अभाव के कारण अपूर्णता से ग्रस्त है। कई दशकों से न्यायालयों

को पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत कोई निधियां प्रदान नहीं की गई हैं, न ही न्यायालयों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वित्त आयोग ने पृथक व्यवस्था की है।” (बल दिया गया)

राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण पुनर्विलोकन आयोग ने न्याय के प्रशासन में केन्द्रीय सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करने की आवश्यकता पर भी बल दिया है। इसमें सिफारिश की गई है (पैरा 7.8.2) :

“भारत सरकार को अधीनस्थ न्यायालयों की स्थापना और अधीनस्थ न्यायपालिका के रखरखाव का संपूर्ण भार राज्य सरकारों पर नहीं डालना चाहिए। संघ सरकार पर अधीनस्थ न्यायालयों के खर्च को पूरा करने की समर्ती बाध्यता है।

अतः, योजना आयोग तथा वित्त आयोग को प्रत्येक राज्य में राज्य न्यायपालिका की मांग को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय स्तरों से पर्याप्त निधियां आबंटित करनी चाहिए।”

(ग) अनुभव सिद्ध साक्ष्य कि न्यायपालिका खर्चों की अपेक्षा अधिक अर्जित करती है

1984 में उच्चतम न्यायालय और इलाहाबाद उच्च न्यायालय की बजट और कार्य शैली के अध्ययन कुछ रुचिकर तथा प्रकट करते हैं। डा. राजीव धबन द्वारा तैयार की गई भारत में मुकदमेबाजी का विस्फोट, भारतीय विधि संस्थान द्वारा प्रकाशित वर्ष 1957 से 1977 तक के आंकड़े (पृष्ठ 67-68 पर सारणी 3) यह दर्शाते हैं कि उच्चतम न्यायालय ने आबंटित अनुदान और “अन्य प्राप्तियां” शीर्ष के अधीन प्राप्त राशि की तुलना में कम राशि खर्च की है।

न्यायालय फीस के रूप में संग्रहीत रकम वस्तुतः खर्च नहीं हुई है। जहां तक उत्तर प्रदेश में न्यायपालिका (जिसमें इलाहाबाद उच्च न्यायालय भी है, पृष्ठ 113 पर सारणी 6) का संबंध है, वर्ष 1961-62 से वर्ष 1978-79 के आंकड़े यह दर्शाते हैं कि न्यायालयों द्वारा (न्यायिक स्टाम्प, रिटों पर फीस, वकालत नामा आदि से) अर्जित आय सदैव उससे अधिक रही जो उन पर खर्च की गई थी। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष में पर्याप्त अधिशेष बच जाता था। डॉ. धबन, जिन्होंने टीका टिप्पणी तैयार की है, लिखा है (पृष्ठ 112): “न्यायपालिका भारत का ऐसा अभिकरण है जो कुल मिलाकर, खर्च की अपेक्षा अधिक अर्जित करता है। उस अर्थ में, इसे अल्पतम खर्चीली शाखा के रूप में भी वर्णित किया जा सकता है।”

(घ) सलाहकार, नियोजन आयोग के मत—निराशाजनक आबंटन

भारत योजना के सलाहकार श्री सुरेन्द्रनाथ के लेख में, जो ‘दि हिन्दू’ तारीख 22 जुलाई 2003 में प्रकाशित हुआ, दी गई जानकारी और आंकड़े के अनुसार, केन्द्रीय योजना विनिधान 1993-94 में न्याय पर विनिधान उच्चतम न्यायालय के निदेशों के अनुपालन में 8वीं पंचवर्षीय योजना (1992-07) में ही आरंभ हुआ। 8वीं योजना के दौरान केन्द्र ने न्यायिक अवसंरचना जैसे न्यायालय कक्षों आदि का निर्माण और सुधार करने पर लगभग 110 करोड़ रुपए खर्च किया। राज्यों द्वारा भी समान रकम खर्च की गई थी। नौवीं योजना में, केन्द्रीय सरकार द्वारा 385 करोड़ रुपए खर्च किए गए और राज्यों ने भी समरूप अभियान किया था। यह 541,207 करोड़ रुपए के कुल केन्द्रीय नौवीं योजना के खर्च का 0.071 प्रतिशत था। दसवीं योजना (2002-07) के दौरान, न्याय के लिए आबंटन 700 करोड़ रु. कुल योजना परिव्यवहार का 0.078 प्रतिशत है।

(ङ) त्वरित दांडिक मामले

दो करोड़ से भी अधिक मामले लगभग तेरह हजार जिला अधीनस्थ न्यायालयों में लंबित हैं। इन मामलों के लगभग दो-तिहाई मामले दांडिक मामले हैं। लगभग दस लाख सैशन मामले हैं, जिनमें जबन्य अपराध जैसे, हत्या, बलात्कार, डॉकैती आदि हैं। सैशन मामलों के तीस प्रतिशत मामले तीन वर्ष या उससे अधिक से लंबित हैं। जब विचारण विलम्बित हो जाता है, साक्षी, रुचि खो देते हैं। वे प्रायः मजबूर किए जाते हैं और न्याय अवास्तविक हो जाता है। भारतीय दंड संहिता के अधीन

अपराधों में दोषसिद्धि 1970 में 65 प्रतिशत से गिरकर 2000 में लगभग 40 प्रतिशत रह गई है। न्याय विलम्बित होता है तो न्याय वंचित हो जाता है। न्याय देने में विलम्ब के लिए मुख्य कारणों में से एक कारण यह है कि न्यायालयों को उनकी समता की अपेक्षा अधिक मामलों को निपटाना पड़ता है। परिणाम यह है कि न्यायालय के पास कोई विकल्प न होकर बार-बार स्थगन ही करना पड़ता है।

जैसाकि ऊपर उल्लिखित है, न्याय के प्रशासन में यह योजना विनिधान समग्र रूप से अपर्याप्त है। यही कारण था कि न्याय विभाग लम्बे समय से लंबित सैशन मामलों के विचारण को त्वरित करने के लिए अतिरिक्त न्यायालय स्थापित करने की गैर-योजना सहायता के लिए गयारहवें वित्त आयोग के पास पहुंचा था।

गयारहवें वित्त आयोग ने, बड़े राज्यों के विधि सचिवों के साथ विचार-विमर्श करने के पश्चात् त्वरित न्यायालयों के नाम से ज्ञात '1734' अतिरिक्त न्यायालय स्थापित करने के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 275 में 5029, करोड़ रु. के अनुदान की सिफारिश की है। इन न्यायालयों को 2005 तक बने रहना है। अनुदान के अंतर्गत त्वरित न्यायालयों के कार्य सम्पूर्ण कार्यकरण ही है। अब तक राज्यों ने 1366 त्वरित न्यायालय अधिसूचित किए हैं और केन्द्रीय सरकार ने लगभग 360 करोड़ रु. दिए हैं। संविधान के अनु 275 के अधीन अनुदान राज्यों पर न्यागमन है। संघ क्षेत्र छूट गए थे। दिल्ली उच्च न्यायालय ने दिल्ली में त्वरित न्यायालय स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। ऐसा ही प्रस्ताव संघ राज्यक्षेत्र चंडीगढ़ ने भी किया है। दिल्ली में त्वरित न्यायालय स्थापित करने के लिए चालू वित्त वर्ष में निधि प्रदान की गई है।

उन त्वरित न्यायालयों को '3,14,774' मामले समनुदेशित किए गए और जून 2003 तक त्वरित न्यायालयों ने 1,60,487 मामले निपटा दिये थे, जो उनको लम्बित मामलों की कुल संख्या के आधे हैं। यह एक उल्लेखनीय प्रगति है। यदि केन्द्रीय सरकार न्याय के बेहतर प्रशासन के लिए राज्यों को पर्याप्त वित्तीय सहायता देती रहती है तो संभवतः न्याय की गुणवत्ता में सुधार होगा और मुकदमा लड़ने वाले व्यक्ति पर अधिक धनीय भार पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

ये त्वरित न्यायालय के बल सैशन मामलों की और मजिस्ट्रेट न्यायालयों में लंबित मामलों की समस्या का समाधान करते हैं। अतः न्याय विभाग त्वरित मजिस्ट्रेट न्यायालय स्थापित करने के लिए प्रस्ताव सहित मार्च 2003 में बारहवें वित्त आयोग के पास पहुंचा।

इस दृष्टिकोण से सरकार द्वारा प्राप्त साधारण करों से अधिक आबंटन आवश्यक है। न्यायालय फीस संरचना को बढ़ाने का कोई औचित्य नहीं है। यह सच है कि समय के बीतने के साथ-साथ न्याय के प्रशासन का खर्च बढ़ रहा है, किन्तु न्यायालय फीस को बढ़ाकर न्याय के प्रशासन के बड़े हुए इस खर्च को पूरा करना समुचित दृष्टिकोण नहीं है। इसके विपरीत यह न्याय की प्राप्ति में रोड़ा होगा जिसे सम्पूर्ण विश्व में मूलभूत अधिकार के रूप में मान्यता दी जाती है।

सम्पूर्ण उत्सादन के लिए पिछली सिफारिशों पर पुनः जोर देने की आवश्यकता

वास्तव में, एक समय न्यायालय फीस के एक साथ उत्सादन के लिए कार्रवाई भी की गई थी। विधि और न्याय मंत्रालय से सम्बद्ध परामर्शी समिति ने जून 1980 की अपनी बैठक में विचारण न्यायालयों में न्यायालय फीस के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक उप-समिति स्थापित की थी। इस उप-समिति ने अपनी रिपोर्ट में न्यायालय फीस के उत्सादन की सिफारिश की थी। यह प्रयोग विधि मंत्रियों के सम्मेलन द्वारा स्थापित उप-समिति द्वारा एक बार पुनः किया गया जिसने अपनी रिपोर्ट अक्टूबर, 1984 में प्रस्तुत कर दी थी। इस उप-समिति ने न्यायालय फीस उत्सादित करने की सिफारिश नहीं की थी। किन्तु कतिपय परिस्थितियों में मूल्यानुसार फीस में कटौती न्यायालय फीस के संदाय/उद्ग्रहण से मुकदमेबाजों के कतिपय प्रवर्गों और मामलों के कतिपय प्रवर्गों को छूट तथा न्यायालय फीस के प्रतिदाय के माध्यम से विस्तृत रूप से न्यायालय फीस की संरचना में व्यवस्थीकरण की सिफारिश की थी। विधि आयोग ने मुकदमे का खर्च पर अपनी 128वीं रिपोर्ट (1988) में न्यायालय फीस के उत्पादन के पक्ष में अपने मत व्यक्त किए थे।

आयोग ने कहा : (पैरा 4)

"तथापि, विधि आयोग अत्यधिक प्रसन्न होगा यदि राज्य सरकारें या भारत सरकार न्यायालय फीस के विधि द्वारा शासित समाज में फीस को किसी असंगत चीज के रूप में देखते हैं और इसे उत्सादित करना चाहेंगे।"

न्यायालय फीस, अधिनियम 1870 का संशोधन करने का प्रस्ताव था जिसकी न्याय विभाग द्वारा 1999 में समीक्षा की गई थी। यह अध्यास उक्त मंत्रालय द्वारा प्रशासित अधिनियमों आदि का पुनर्विलोकन करने के लिए गृह मंत्रालय द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ समूह की सिफारिशों के अनुसरण में किया गया था।

तथापि, तत्कालीन विधि और न्याय मंत्री के अनुमोदन पर यह विनिश्चय किया गया था कि अधिनियम का संशोधन न किया जाए।

निष्कर्ष

स्थिति का विचार करते हुए, हम कह सकते हैं कि न्याय के प्रशासन के खर्च को पूरा करने के लिए बहुत से अन्य तरीके हैं। जैसा पहले वर्णन किया गया है, बहुत से अन्य तरीके हैं। दांडिक न्याय प्रणाली का प्रशासन राज्य का प्रभुत्व सम्पन्न कार्य है, इसलिए फीस उद्ग्रहीत नहीं की जा सकती है। राज्य को साधारण कर दाता से संग्रहीत अपने साधारण राजस्व से सिविल न्याय के प्रशासन पर पर्याप्त रकम खर्च करनी चाहिए ताकि सम्पूर्ण बोझ मुकदमेबाज पर नहीं पड़े। राजस्व प्राप्त करने का एक अन्य तरीका भारतीय दंड संहिता, 1860 और अन्य दांडिक अधिनियमितयों के अधीन विहित जुर्माने की रकम में वृद्धि करना है। लम्बे समय से, जुर्माने की रकम में वृद्धि नहीं की गई है। अपराध किए जाने पर अधिरोपित की जाने वाली जुर्माने की रकम इन सभी वर्षों के दौरान रूपए के मूल्य में कमी के संदर्भ में बढ़ायी जानी चाहिए। एक बार यह हो जाता है तो मुद्रास्फीरी के प्रभाव को समाप्त करने का पुनः मूल्यांकन हो सकेगा। यदि यह कर दिया जाता है तो न्याय के प्रशासन के बड़े हुए खर्च को पूरा करने में यह राज्यों के लिए सहायक होगा।

स्पष्टता: प्रस्तुत नहीं कर सकेगा।" (उच्चतम न्या. पद्धति और प्रक्रिया पर समिति की द्वितीय अंतरिम रिपोर्ट में कोट किया गया, पृ. 43)

विद्वान् लेखक डा. आर. एम. जैक्सन ने इंग्लैण्ड में न्याय प्रशासन से अर्जित लाभों के संदर्भ में रायल न्याय की निर्भरता का उल्लेख किया है :

"गत समय में रायल न्याय का विकास भागत; उस लाभ से हुआ था जो अधिकारिता का प्रयोग करने से उद्भूत था प्रारंभिक अंतर्निहित न्याय साधारण कार्यवाईयों के विचारण से संबंधित होने की अपेक्षा सम्प्राट के वित्तीय अधिकारों की सुरक्षा करने से अधिक संबंधित था। न्यायालय से स्वयं के लिए संदाय करने और सम्प्राट के लिए लाभ प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती थी। कभी-कभी ऐसा होता है कि क्योंकि न्याय आय का पर्याप्त साधन रहा है किन्तु प्राचीन विचार यह है कि न्यायालयों को घाटे में नहीं चलना चाहिए।" (देखें इंग्लैण्ड में न्याय तंत्र 5वां संस्करण पृ. 324)।

पूर्ण खर्च की वसूली : न्याय तक पहुंच के सिद्धांत से प्रतिकूलता : अन्य देशों के अनुभव

न्याय विभाग का निर्देश पत्र, जिसका उल्लेख अध्याय 1 में किया गया है, किसी संगठन या विभाग (प्रायः सरकार के) की आर्थिक दक्षता का परीक्षण करने की इस धारणा पर आधारित प्रतीत होता है कि क्या उसे खर्च की अपेक्षा आमदनी अधिक प्राप्त होती है। हमने अभी-अभी देखा है, ऐसा दृष्टिकोण, अप्रासंगिक है और जहां तक न्यायपालिका का संबंध है, वैध रूप से और सांविधानिक रूप से यह असमर्थनीय है। इसके विपरीत, न्यायपालिका की वित्तीय निर्भरता राज्य के एक स्वतंत्र अंग के रूप में इसके कार्यकरण के लिए अनिवार्य है; न्याय के निष्पादन का परीक्षण करने के लिए व्यय मानदंड कभी नहीं हो सकता और न होना चाहिए। फिर भी, जैसी पहले अध्याय में चर्चा की गई है, न्यायपालिका को अब तक ऐसी राशियां प्राप्त नहीं हुई हैं जिनकी यह केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों दोनों से अपेक्षा करती है। इसके अतिरिक्त, उपलब्ध आंकड़े यह बताते हैं कि यह फीस और न्यायिक स्टाम्पों के रूप में उससे अधिक अर्जित करती है जो यह रख रखाव के लिए खर्च हैं कि यह फीस और न्यायिक स्टाम्पों के रूप में उससे अधिक अर्जित करती है जो यह रख रखाव के लिए खर्च करती है। इस समय उद्ग्रहीत की जा रही न्यायालय फीस के अंतर्गत "केवल न्यायिक प्रक्रिया के प्रशासनिक खर्च का एक भाग आता है।"

यह सिद्धांत कि न्याय के प्रशासन के खर्च उपयोक्ताओं से उद्ग्रहीत न्यायालय फीस से पूर्णतः पूरे किए जाने चाहिए "पूर्ण खर्च वसूली" के रूप में समझा जाता है। इस अध्याय में कुछ राष्ट्रमंडल देशों में प्रथा की जांच करने का प्रस्ताव है जहां यह सिद्धांत, जिसे बहुत पहले लागू किया गया था, या तो अब उपांतरित कर दिया गया है या बिल्कुल ही त्याग दिया है। वास्तव में, उपलब्ध साहित्य का सर्वेक्षण यह स्पष्ट करना कि पूर्ण खर्च वसूली का सिद्धांत पूर्णतः असमर्थनीय है और राष्ट्रमंडल या यूरोप के किसी देश में स्वीकार नहीं किया गया है।

इंग्लैण्ड में स्थिति

गत समय में, न्यायालय फीस के उद्ग्रहण को शासित करने वाला सिद्धांत यह था कि न्यायाधीशों के वेतन और पेंशन लोकनिधि में से राज्य द्वारा संदर्भ किए जाते थे। यह स्वीकार किया जा रहा था कि यह राज्य की बाध्यता है कि वह अपने सभी न्यायालयों, सिविल, दाप्तिक और राजस्व में, न्याय दिलवाने के लिए तंत्र की व्यवस्था करेगा और न्याय के प्रशासन के अन्य खर्च मुकदमा लड़ने वाले व्यक्तियों द्वारा वहन किए जाएंगे (विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट पृ. 505)।

इस संबंध में, इंग्लैण्ड में न्यायालय फीस संबंधी समिति, जिसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति मैकनार्थेन ने की थी, निम्नलिखित संप्रेक्षण किया :

"उच्चतम न्यायालय उन प्राइवेट वादकर्ताओं के लिए जो उसका आश्रय लेते हैं, न्याय दिलाने के कार्य मात्र में नहीं लगा हुआ है, बल्कि सिविल मामलों, जैसे किंग्स बैंच के क्राउन पत्र की कार्यवाहियों में भी लगा है। न्याय के प्रशासन के खर्च के लिए, जहां जनता का स्वयं इससे संबंध है, राज्य को सुझाव दिया जाता है कि आवश्यक निधियों का उपबंध करना चाहिए, क्योंकि, ऐसा कोई कारण नहीं हो सकता कि प्राइवेट वादकर्ता को ऐसा करना चाहिए। हालांकि, निःसंदेह ऐसी सही गणना करना कठिन होगा कि उच्चतम न्यायालय को कितना व्यय, प्राइवेट न्याय से जन न्याय प्रशासन के लिए करना होता है। न्यायाधीशों को दिया जाने वाला वेतन और पेंशन शायद उस आंकड़े को

पूर्ण खर्च वसूली के लिए लार्ड चांसलर के हाल ही के सुझाव की इंग्लैण्ड में आलोचना

न्याय प्राप्ति और पूर्ण खर्च की वसूली, इन दो नीतियों का उल्लेख करने वाला विस्तृत वर्णन 1993 में स्टेशनरी आफिस द्वारा प्रकाशित 'दी फीस एंड चार्जेंज गाइड' नामक हर मजेस्टी के खजाने द्वारा प्रकाशित गाइड में दिया गया है। लार्ड चांसलर ने 15 नवम्बर, 1998 को संसद में सिविल कार्यवाहियों और न्याय की प्राप्ति के लिए फीस के बारे में निम्नलिखित सिद्धांत भी घोषित किए थे :—

- (1) फीस न्याय प्राप्ति को निवारित नहीं करना चाहिए।
- (2) साधारण साधनों वाले मुकदमेबाजों को संरक्षण प्रदान करना चाहिए।
- (3) फीस उस सेवा के खर्च के समरूप होनी चाहिए जिसके लिए वह प्रभारित की जाती है।
- (4) अपनी क्षमता के अनुसार संदाय करने की प्रणाली न्याय प्राप्ति को अवरुद्ध किए बिना विस्तारित की जानी चाहिए।
- (5) प्रक्रम या आवेदन के खर्च को परिलक्षित करने वाली एक समान दर फीस अन्य प्रभारित प्रक्रमों पर संदर्भ की जानी चाहिए।
- (6) निर्गम और प्रवर्तन फीस दावे के मूल्य के अनुरूप होनी चाहिए।
- (7) एक-समान फीस औसत खर्च, न कि वास्तविक खर्च, के आधार पर नियत की जानी चाहिए।
- (8) फीस दावेदार द्वारा संदर्भ की जानी चाहिए, या जहां कोई विनिर्दिष्ट आवेदन किया जाता है वहां ऐसे पक्षकार द्वारा, जिसने वह आवेदन किया है, दी जानी चाहिए।
- (9) फीस अग्रिम रूप से संदर्भ की जानी चाहिए।

इन सुझावों की गंभीर आलोचना की गई है। एक पूर्व अध्याय में, हाईकोर्ट के एक विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया था (चार बनाम लार्ड चांसलर एक्सपार्ट विथम (1997) 2 आ.इ.रि. 779) जहां इस बात पर बल दिया गया था कि न्याय तक पहुंच का अधिकार एक सामान्य सांविधानिक अधिकार था जिसे विनिर्दिष्ट कानूनी उपबंध द्वारा या उस विधान द्वारा जो उस अधिकार को निरसित करने की शक्ति विनिर्दिष्ट रूप से प्रदत्त करता है, ही उत्सादित किया जा सकता है। यह विनिश्चय ऐसे मामले में दिया गया था जिसमें उच्चतम न्यायालय फीस आदेश 1980 के लार्ड चांसलर द्वारा किए गए उस संशोधन को चुनौती दी थी जो उस उपबंध को निरसित करना था जो ऐसे मुकदमेबाजों को जो न्यायालय फीस का संदाय करने की बाध्यते

आय के आधार पर छूट पा सकते थे, और आपवादिक परिस्थितियों में अनुचित वित्तीय कठिनाई के किसी विशिष्ट मामले में फीस को कम करने या उसे माफ करने के लिए लार्ड चांसलर को अधिकार था।

संशोधन को अविधिमान्य घोषित करते हुए, न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि 1996 के संशोधन का प्रभाव “न्यायालयों से न्याय मांगने से बहुत से व्यक्तियों को नितांत रूप से वर्जित करना था।” सितम्बर 2002, में न्यायालय सेवा ने सिविल न्यायालय फीस को नियत करके बढ़ातरी की रेंज की सिफारिश करते हुए और खर्च वसूली तथा न्याय की प्राप्ति के बीच संतुलन सुनिश्चित करने की मांग करते हुए परामर्श पत्र प्रकाशित किया। सरकार की नीति परामर्श पत्र सारांश के पैरा 1.7 में कथित था जो निम्नवत है :

“1.7 सरकार की नीति यह है कि फीस सामान्यतः सेवा के पूर्ण खर्च को वसूल करने के लिए नियत की जानी चाहिए यद्यपि ऐसे मामले हो सकते हैं जिनमें मंत्री सहमत हो जाते हैं कि सेवा के पूर्ण खर्च से कम वसूल करना चाहिए। उच्चतम न्यायालय और काउन्टी न्यायालय और कुटुम्ब न्यायालयों की कार्यवाहियों और दीवाला कार्यवाहियों के उपबंध के लिए, औसत परीक्षित फायदों या कर प्रत्ययों पर उन स्वतः छूट के लिए; कठिनाई अथवा अन्यथा किसी कारण से मामले लाए जाने को निवारित करने की दशा में ऐसी फीस का परिहार या उसकी कटौती के लिए और उनकी विशेष प्रकृति के कारण कुटुम्ब कार्यवाहियों के लिए लोक सहायिका के लिए छूट दी जाती है। ये छूटें न्याय तक पहुंच की संरक्षा करने की सरकारी नीति को पूरा करने के लिए हैं।”

पुनः पैरा 3.2 में यह कथन किया गया है :

“न्याय तक पहुंच, उनके लिए, जो छूट का फायदा नहीं लेते हैं, विनिर्दिष्ट औसत परीक्षित फायदे और वैवेकिक परिहार (भागतः या पूर्णतः) पर मुकदमेबाजों के लिए स्वतः छूट द्वारा संरक्षित है किन्तु जिन्हें आपवादिक कठिनाई का समना करना होगा यदि उनसे फीस का पूर्णतः संदाय करने की अपेक्षा की जाती है। ‘न्यायालय फीस और क्या आपको उसका संदाय करना है?’ पत्रक छूट और परिहार के बारे में जनता को अधिक जानकारी देता है और वे उसके लिए कैसे आवेदन करें। जो पूर्ण खर्च वसूली की उपरोक्त नीति की अनेक प्रतिष्ठित न्याय शास्त्रियों द्वारा आलोचना की गई है। 2002 में लार्ड बुलफ ने सरकार पर उसके प्रस्ताव “दोषपूर्ण विचारधारा” के लिए आरोपित किया कि सिविल न्यायालय स्वयं वित्त पोषण कर सकते हैं। उसने कहा, नीति ‘स्वतः स्पष्ट बकवास’ थी। विश्व के किसी अन्य देश में ऐसी कोई नीति नहीं थी और उसके प्रभाव ‘घातक तथा खतरनाक’ थे।

सिविल न्याय परिषद जो सिविल प्रक्रिया अधिनियम, 1997 के अधीन स्थापित एक परामर्शी गैर-विभागीय लोक निकाय है जिसकी अध्यक्षता मास्टर आफ रोल्स, लार्ड फिलिप द्वारा नवम्बर 2003 में की गई थी, सिविल न्याय प्रणाली पर पूर्ण खर्च वसूली की ट्रेजरी नीति के प्रभाव पर लार्ड चांसलर को सलाह प्रकाशित की थी। रिपोर्ट में चार व्यापक कारणों की चर्चा है कि यह विचार करने के लिए सरकार व्यापक गलत है कि सिविल न्याय को विस्तृत रूप से स्ववित्त पोषित होना चाहिए। यह बताती है कि पूर्ण खर्च वसूली—

- (क) अनुचित क्रास सहायिका समिक्षा के बिना संभव नहीं है;
- (ख) सिविल न्याय प्रणाली के अंतर्गत प्रदान की गई सेवा की प्रकृति और क्वालिटी को मनमाने ढंग से सीमित करती है;
- (ग) न्यायालयों तक पहुंच को सीमित कर सकती, और
- (घ) सिद्धांत रूप से गलत है।

सिविल न्याय परिषद ने निष्कर्ष निकाला “पूर्ण खर्च वसूली की नीति ऐतिहासिक दृष्टि से हाल ही की है। यह न तो वह दृष्टिकोण है जिसका अनुसरण मुख्य अंग्रेजी भाषी कॉम्पन विधि अधिकारिता में किया गया है न ही यह वह दृष्टिकोण है जिसका, अधिकतर अन्य यूरोपीय अधिकारिता में पालन किया गया है।”

“सिविल न्याय परिषद की दृष्टि से, नीति का परित्याग करना चाहिए। परिषद यह स्वीकार करती है कि मुकदमेबाजों से फीस प्रभारित करनी चाहिए किन्तु वह दावाकृत रकम के अनुपात में नहीं होनी चाहिए और फीस का स्तर अवधारित करने में आनुपातिकता मुख्य कारक होनी चाहिए। जबकि, वास्तव में यथा संभव सही फीस का अनुमान लगाना अनिवार्य है, न्यायालय सेवा व्यय से इसका कोई नियत संबंध नहीं होना चाहिए।”

परिषद के अध्यक्ष, लार्ड फिलिप ऑफ वर्थ मेट्रोवर्स, मास्टर आफ रोल्स ने कहा :

“सिविल न्याय प्रणाली में पूर्ण खर्च वसूली की नीति 1980 के पूर्व से ही विद्यमान है और संसद में इस पर कभी उचित रूप से चर्चा नहीं की गई है। यह वह दृष्टिकोण नहीं जिसका अन्य मुख्य कॉम्पन विधि अधिकारिता में पालन किया गया, ना ही इसका पालन यूरोपीय अधिकारिता में किया गया है।”

नागरिक से न्यायालय फीस संदाय करने की अपेक्षा करना गलत नहीं है किन्तु सिविल न्यायालयों तक पहुंच सामाजिक और सामूहिक फायदे और व्यक्ति को सेवा प्रदान करने के लिए समझी जानी चाहिए। फीस दाव पर लगी रकम के अनुपात में होनी चाहिए।”

मार्च 2003 में हाउस ऑफ लार्डस में पियर्स ने लार्ड चांसलर से यह अपेक्षा करने के लिए न्यायालय विधेयक का संशोधन किया कि वह न्यायालय फीस नियत करते समय न्याय प्राप्ति का ध्यान रखे। न्यायालय फीस नियत करते समय नई सिविल न्यायालय फीस, जो न्याय प्राप्ति में अंतर्वलित खर्चों को बराबर करने के लिए अभिकल्पित है, 1 अप्रैल, 2003 से प्रवृत्त हो गई है।

हमने इस प्रयोजन के लिए ही यूनाइटेड किंगडम में उपरोक्त विकास यह दर्शाने के लिए उद्धृत किए हैं कि मुकदमेबाजों से न्याय परिदान प्रणाली पर खर्च की वसूली की धारणा की न्यूनाधिक निंदा की गई है। यह उल्लेख किया गया है कि किसी भी राष्ट्रमंडल देश में या.महाद्वीप में कोई भी सभ्य प्रणाली ऐसी धारणा को आगे नहीं लाई है।

उपरोक्त मत, विशेषतया लार्ड बुलफ और लार्ड फिलिप द्वारा अभिव्यक्त उन मतों के अनुरूप है जैसे वे विधि आयोग अन्य समितियों, न्यायाधीशों और न्यायविदों आदि के हैं, जिनका हमने विस्तार से ऊपर उल्लेख किया है।

आस्ट्रेलिया में स्थिति

1999 में, आस्ट्रेलिया विधि सुधार आयोग (ए एल आर सी) ने उसको किए गए निर्देश पर विचार किया कि इसे “विधिक सेवाओं में अत्यधिक खर्च के कारणों और सरल, सस्ते और अधिक सभ्य विधिक प्रणाली की आवश्यकता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।” न्याय प्रबंधन नामक शीर्षक पर आस्ट्रेलिया विधि सुधार आयोग की रिपोर्ट : संघीय सिविल न्याय प्रणाली रिपोर्ट सं. 89 का पुनर्विलोकन, विधिक खर्च पर अध्याय 4 पैरा 4.1 (<http://www.anstl.li.edu.au/au/other/alrc/publications/Reports.89/>) ए एल आर सी ने अपनी रिपोर्ट में यह उल्लेख किया है कि पूर्ण खर्च वसूली का अनुसरण इसलिए नहीं किया जाता है क्योंकि “सरकार की लोकतांत्रिक प्रणाली में न्यायिक प्रणाली की मुख्य भूमिका होती है जो वैयक्तिक विवादों के समाधान, विधि के प्रगामी विकास, कार्यपालक प्राधिकारी पर रोक लगाने और मानवीय अधिकारों की संरक्षा करने के उद्देश्यों से बढ़कर है।”

रिपोर्ट आगे यह स्पष्ट करती है कि न्यायालय प्रणाली का उपभोक्ताओं से प्राप्त संदायों को न्यायालयों द्वारा प्रदान की गई सेवाओं के साथ सहसंबंध स्थापित करना क्यों आसान नहीं है। कारण यह है कि “यह धारणा बनाना कठिन है कि सेवा

के उपयोक्ता कौन हैं क्या प्रतिवादी हैं या आवेदक, जिनमें से प्रत्येक को परिणाम का फायदा होगा। न्यायालय प्रणाली के प्रभावी प्रवर्तन के और वैयक्तिक विवादों द्वारा सृजित पूर्वोदाहरणों के समवेत फायदे हैं।” ऐसी न्यायालय फीस संरचना विकसित करने में व्यावहारिक कठिनाइयां भी हैं जो प्रदान की गई सेवाओं की जटिलताओं और वास्तविक खर्च को परिलक्षित करती हैं और भिन्न-भिन्न मामलों के खर्च को ध्यान में रखती हैं।”

ए एल आर सी ने इस सुझाव को अस्वीकार किया है कि फीस छूट और अधित्याग न्यायालय के विवेकाधिकार पर, फीस के विपरीत, अधिक व्यापक रूप से लागू किए जाएं। कारण यह था कि :

“न्यायालय रजिस्ट्री कर्मचारिवृन्द को छूट और अधित्याग के लिए व्यापक वैवेकिक प्रबर्गों का मूल्यांकन करने में वास्तविक कठिनाइयां हो सकती हैं।”

वस्तुतः, ए एल आर सी ने भी इस मांग का समर्थन नहीं किया है कि पूर्ण खर्च की वसूली होनी चाहिए। इसने महसूस किया कि “खर्च तत्वों पर नियंत्रण करने की अपेक्षा उनकी पहचान करना आसान है।” आयोग के अनुसंधान और परामर्श यह स्पष्ट करते हैं कि कोई एकल, सरल समाधान नहीं है जो संघीय अधिकारिता में विधिक खर्चों को कम करेगा, यद्यपि आयोग ने सरकार, न्यायालयों, अधिकरणों और व्यवसायियों के लिए असंख्य युक्तियों की पहचान की थी जो बहुत से मामलों में खर्च को नियंत्रित करने में सहायता कर सकती थी।”

यू एस ए

संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायपालिका संबंधी प्रश्न समग्रतः ज्यूडीशियल कान्फ्रेंस ऑफ द युनाइटेड स्टेट्स (जे सी यू एस) द्वारा निपटाए जाते हैं। जे सी यू एस हाल ही में जे सी यू एस और अन्य न्यायिक शाखा प्राधिकारियों द्वारा भावी प्रशासनिक कार्रवाई और नीति विकास को मार्गदर्शित करने के लिए एक दीर्घ शृंखला योजना के साथ आगे आया है। इसकी सिफारिशों में ये सिफारिशें हैं : “संघीय न्यायालयों को अपने सांविधानिक और कानूनी आदेशों के उचित निर्वहन को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त साधन अभिप्राप्त होने चाहिए।” जे सी यू एस ने ध्यान दिया है कि : पर्याप्त साधन प्रदान करने की चिरकालिक असफलता के कारण की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में, निधियों के लिए कांग्रेस से लगातार मांग करते रहने के लिए संघीय न्यायाधीश विवश हो जाते हैं। कांग्रेस के लिए अपनी दलील को पुनः दोहराते हुए कि कांग्रेस को “ऐसे नए विधान को अधिनियमित करने से दूर रहना चाहिए जो उस विधान के अधीन बाध्यताओं को पूरा करने के लिए न्यायपालिका के लिए विधि की व्यवस्था के बिना संघीय न्यायालयों के कार्यभार में वृद्धि करती है।” यह भी सिफारिश की गई है कि अनुकल्पतः “कांग्रेस से न्यायपालिका की विद्यमान बाध्यताओं को पर्याप्त रूप से कम करने का अनुरोध किया जाना चाहिए जिससे कि नए विधान की बाध्यताओं से उद्भूत न्यायिक भार का वहन किया जा सके।” (संघीय न्यायालयों के लिए दीर्घ शृंखला प्लान, अध्याय-8 ‘स्रोत’, पृष्ठ 94)

जे सी यू एस ने असंदिग्ध रूप से न्याय के प्रशासन के अतिरिक्त खर्च को पूरा करने के लिए उपयोक्ता फीस की वृद्धि के विरुद्ध अपना मत व्यक्त किया है। इस संबंध में इसकी सिफारिश यह है कि “संघीय न्यायालयों को, जिनमें दिवाला न्यायालय भी है, मुख्यतः साधारण विनियोग के माध्यम से वित्तपोषण प्राप्त करना चाहिए।” (पृष्ठ 95) जे सी यू एस अपनी सिफारिशें निम्नवत् स्पष्ट करता है (पृ. 95-96) :

“संघीय न्यायालय सांविधानिक अधिकारों की संरक्षा के लिए अपरिहार्य मंच है, उनके खर्च, सभी नागरिकों द्वारा उचित रूप से वहन किए जाते हैं। अन्य सरकारी प्रचलनों, जैसे राष्ट्रीय पार्क, जिनके लिए उपयोक्ता फीस के माध्यम से पर्याप्त वित्तपोषण उचित हो सकता है, संघीय न्यायालयों का मिशन पूरा नहीं हो सकेगा यदि उपयोक्ताओं को युक्तियुक्त उपयोक्ता फीस संदर्त करने में असमर्थ रहने के कारण न्याय तक पहुंच से वंचित कर दिया जाता है।”

“कम से कम तीन ऐसे कारण हैं जो उपयोक्ता फीस की बजाए साधारण-विनियोग पर सतत निर्भरता का समर्थन करते हैं प्रथम यह है कि संघीय न्यायालयों में फाइलिंग वर्षानुवर्ष पर्याप्त रूप से बदल सकती है, उपयोक्ता फीस के माध्यम से वर्षभार संग्रहीत राजस्व रकम के बारे में अर्थिक अनिश्चितता के कारण उपयोक्ता फीस की रकम पर निर्भर नहीं रहा जा सकता है और इस प्रकार, यह वित्तपोषण का अवांछनीय साधन हैं। द्वितीय, उस अनिश्चितता के कारण फीस का समायोजन चालू न्यायिक कार्यक्रमों को पोषित करने के लिए आवश्यक हो जाता है।

अंत में, और अतिमहत्वपूर्ण रूप से, मुकदमेबाजों को फीस से इस प्रकार न लादा जाना चाहिए कि कम आमदनी वाले लोगों की संघीय न्याय तक पहुंच समाप्त हो जाए।

संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थिति यह है कि पूर्ण खर्च वसूली न्याय के प्रशासन के खर्च को पूरा करने की पद्धति का समर्थन नहीं करती है सिफारिश निरंतर यह रही है कि ये खर्च साधारण विनियोग के माध्यम से पूरे किये जाने चाहिए।

यूरोपीय अधिकारिता

यूरोप में स्थिति, जैसा कि सिविल न्याय परिषद् द्वारा पूर्ण खर्च वसूली पर अपने पत्र में नोट किया गया है, लंगभग ऐसी ही है। उदाहरण के लिए स्पेन में कोई फीस 1984 से सिविल मामलों में प्रभारित नहीं की गई है। इटली में अति लघु धन दावों के लिए कुदम्प मामले या नियोजन और सामाजिक सुरक्षा से संबंधित मामलों के लिए कोई इश्यू फीस नहीं थी। स्वीडन में न्यायालयों में सिविल मामले के कुल खर्च का 6.1 “रजिस्ट्रेशन फीस” द्वारा पूरा किया जाता है और कुल खर्च का अतिशेष केन्द्रीय निधियों में से संदर्त किया जाता था।

स्विटजरलैण्ड के संबंध में पत्र सूचित करता है कि “फीस से पूरे किये गये खर्चों का अनुपात कैटनों के बीच और विभिन्न न्यायालय के बीच भिन्न-भिन्न था”; उदाहरण के लिए उच्चतम अनुपात ज्युरिच प्रांत के जिला न्यायालयों की दशा में लंगभग 40.1 था, जिसमें 10-15 प्रतिशत का अपवाद है।

सारांश

यह आवश्यक नहीं लगता है कि पूर्ण खर्च वसूली से दूर हटने के संबंध में विदेशी अधिकारिताओं में विकास के और उदाहरणों को उद्धृत किया जाए। यह सुरक्षित निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कॉमन विधि संबंधी अधिकारिताओं या सिविल विधि संबंधी अधिकारिताओं, दोनों में, साधारण विनियोग और केन्द्रीय सरकार/राज्य सरकार द्वारा वित्तपोषण के माध्यम से, न कि उपयोक्ता फीस के माध्यम से, न्याय के प्रशासन के खर्च को पूरा करने के लिए निधियों को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति है।

आगे यह प्रस्ताव है कि ऐसे अन्य मार्ग की समीक्षा की जानी चाहिए जिस पर सचिवों की स्थाई समिति के विचार आधारित हैं और उसके 19-7-2002 के पत्र में अभिव्यक्त है। (यह पत्र पहले अध्याय में निर्दिष्ट किया गया है)। यह मत है कि “विधिक प्रणाली में वित्तीय अप्रोत्साहक का निर्माण करने की आवश्यकता है जिससे तंग करने वाले मुकदमेबाजी होत्साहित हो सके।” ऐसी कोई आवश्यकता है या नहीं और यदि ऐसी आवश्यकता है तो क्या बढ़ती हुई न्यायालय फीस उसका उत्तर है, इस बारे में अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

अध्याय VI

क्या तंग करने वाली मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करने के लिए वित्तीय अप्रोत्साहकों के निर्माण हेतु न्यायालय फीस संरचना का पुनरीक्षण करने की आवश्यकता है?

संगत मत—न्यायालय फीस में मुकदमेबाजी के लिए अप्रोत्साहक के रूप में वृद्धि नहीं की जानी चाहिए।

न्याय विभाग और सचिवों की स्थायी समिति (एस.सी.ओ.एस.) ने सुझाव दिया है कि तुच्छ मुकदमेबाजी को रोकने की तत्काल आवश्यकता है जो न्यायालय में बकाया मामलों के बोझ को बढ़ाती है। 24 जुलाई, 2004 को आयोजित सचिवों की स्थायी समिति की आठवीं बैठक में यह सुझाव भी दिया गया था कि विधिक प्रणाली में वित्तीय अप्रोत्साहकों के निर्माण की आवश्यकता है जिससे तुच्छ मुकदमेबाजी को निरुत्साहित किया जा सके। यह प्रतीत होता है कि तुच्छ मुकदमेबाजी के हतोत्साहन के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए, न्यायालय फीस संरचना के पुनरीक्षण का सुझाव दिया गया है। किन्तु, भारत के विधि आयोग ने तथा भारत के न्यायालयों और विदेश में यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं किया गया है।

वास्तव में लार्ड मैकाले ने इस उपधारणा को बहुत पहले 1835 में ही “बेतुका” के रूप में वर्णित किया था। वास्तव में जब यह विनियम 1795 के उद्देश्यों और कारणों के कथन में कहा गया था कि न्यायालय फीस की ऊँची दर योजना का आशय आधारहीन और तुच्छ और मीमांसात्मक मामलों को रोकना है, लार्ड मैकाले ने 25 जून, 1835 के अपने कार्यवृत्त में बंगला विनियम की उद्देशिका को “अति विख्यात बेतुकी उद्देशिका, जो कभी तैयार की गई थी” के रूप में वर्णित किया है।

लार्ड मैकाले का मत, भारत के विधि आयोग द्वारा “न्यायिक प्रशासन का सुधार” पर इसकी 14वीं रिपोर्ट के अध्याय-22 पैरा-5 में, अनुमोदन के साथ निर्दिष्ट है। वास्तव में, उच्चतम न्यायालय ने मद्रास सरकार के सचिव बनाम पी आर सर्गीमुला 1996 (1) एस सी सी 345 और पी एम अश्वथा नारायण शेही बनाम कर्नाटक राज्य (1989) पूरक (1) एस सी सी (696) में भी इसी मत की पुष्टि की है। इस पहलू को कुछ विस्तार से निर्दिष्ट करना उचित होगा।

लार्ड मैकाले ने कहा था :

“निःसन्देह यह महान बुराई है कि तुच्छ और तंग करने वाली कार्रवाइयां संस्थित की जाएं। लेकिन यह ऐसी बुराई है जिसके लिए सरकार ने केवल स्वयं और अपने अधिकारियों को दोषी ठहराया है और जिसके लिए अति पर्याप्त उपचार प्रदान करने की शक्ति इसके पास है।”

उन्होंने आगे कहा :

“बेईमान वादियों ने, संस्थापन फीस अधिरोपित होने से पहले न्यायालयों में क्यों आवेदन किया? स्पष्टतः क्योंकि उन्होंने सोचा कि उनके पास सफलता का अवसर था। क्या फीस का संस्थापन उस अवसर को कम करता है? लघुतम मात्रा में नहीं। यह न तो अभिवचनों को स्पष्ट करती है न विधि को स्पष्ट…… इससे निःसन्देह बेईमान वादी जो फीस का संदाय नहीं कर सकते, दूर चले जाएंगे। किन्तु इससे ईमानदार वादी भी, जो ऐसी ही स्थिति में है, दूर चले जाएंगे।”

लार्ड मैकाले का मत उच्चतमक आधार पर रखा गया है। विधि आयोग ने अपनी 14वीं रिपोर्ट (अध्याय 22 पैरा 6) में यह संप्रेक्षण किया कि इस तर्क में कोई वास्तविकता नहीं है कि न्यायालय की ऊँची फीस दरें आरम्भ की जाएं ताकि तुच्छ मुकदमेबाजी को रोका जा सके। विधि आयोग ने संप्रेक्षण किया कि :

“29. यह दलील कि तुच्छ मुकदमेबाजी को रोकने के लिए ऊँची न्यायालय फीस अधिरोपित करना अनिवार्य है, पहले से ही निर्दिष्ट है, इसमें कोई वास्तविकता नहीं……ये बढ़ोतरियां जहां तक हम जानते हैं न्याय के प्रशासन के बढ़े हुए खर्च के कारण बढ़े हुए राजस्व की आवश्यकता के आधार पर सामान्यतः न्यायोचित रही हैं (अध्याय 22 पैरा 29)। तीन दशकों के पश्चात्, एक समान मत भारत के विधि आयोग द्वारा मुकदमेबाजी के खर्च पर इसकी 128वीं रिपोर्ट के (1988) (पैरा 3.6) में अभिव्यक्त किया गया था। लार्ड मैकाले के मत से सहमत होते हुए और भारत के विधि आयोग के इसकी 14वीं रिपोर्ट में अभिव्यक्त मत और भारत के उच्चतम न्यायालय के मत को पुनः दोहराते हुए आयोग का यह मत है कि तुच्छ या तंग करने वाली मुकदमेबाजी को रोकने के लिए न्यायालय फीस में वृद्धि तर्क के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती है और लगभग पिछले डेढ़ सौ वर्षों में न कभी स्वीकार की गई है।”

आगे, उच्चतम न्यायालय ने भी मद्रास सरकार के सचिव बनाम पी आर शार्करा मुलु (1996) 1 एस सी सी 345 में तुच्छ मुकदमेबाजी को रोकने के लिए न्यायालय फीस की वृद्धि की धारणा का विरोध किया है। न्यायालय ने निम्नलिखित संप्रेक्षण किया :

“आरंभ में (न्यायालय) फीस का अधिरोपण नाममात्र था लेकिन समय के अनुक्रम में यह इस प्रभाव के अधीन शाने:- शाने: बढ़ा दी गई थी कि यह तुच्छ और आधारहीन मुकदमेबाजी के संस्थापन को रोकेगी और वित दावों के संस्थापन में कोई अड़चन डाले बिना न्यायालय प्रक्रिया के दुरुपयोग के लिए एक प्रभावी भयोत्पादक होगी। तथापि, यह मत नगण्य है कि फीस के उदग्रहण में तुच्छ मुकदमेबाजी पर रोक लगाने की प्रवृत्ति होगी; इस मत में हर अवसर में प्रयोजन की पूर्ति के लिए दम था जिस पर न्याय के प्रशासन के लिए कुछ सुसंगतता रखने के लिए विश्वास किया था। चूंकि लगभग पिछले पैमाने पर दो दशकों में उच्च पैमाने पर न्यायालय फीस का उदग्रहण अपना औचित्य ढूँढ़ता हुआ प्रतीत होगा न कि न्याय के ठोस प्रशासन से संबंधित किसी प्रयोजन में, किन्तु क्षतिपूर्ति के लिए साधन के रूप में राजस्व के लिए राज्य सरकार की आवश्यकता में” (पैरा 6)।

अतः यह उल्लेख किया गया है कि वह युक्ति, जो न्यायालय फीस को बढ़ाती है, न्याय के सम्यक प्रशासन को विकसित करने के लिए थी, इस दलील को बहुत जल्द तिळांजलि दे दी गई थी जब विधानमण्डलों ने अपनी प्रतिपूर्ति के अध्युपाय के रूप में न्यायालय फीस में वृद्धि करनी आरंभ की थी।

पहले रचना शुबराव बनाम शिदप्पा वेकटराव (आई आर पी सी 188) में प्रिवी काउंसिल ने भी विवेचनात्मक रूप से यह संप्रेक्षण किया था कि मुकदमेबाजों को सशस्त्र करने की बजाए, न्यायालय फीस अधिनियम के उपबंध, राज्य के फायदे के लिए राजस्व प्राप्त करने के लिए आशयित हैं।

आयोग को उच्च न्यायालय और विधि आयोग द्वारा अपनी 14वीं और 128वीं रिपोर्ट द्वारा अभिव्यक्त मत की अपेक्षा भिन्न मत रखने के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता कि न्यायालय फीस की वृद्धि के लिए अन्तर्निहित वास्तविक कारण राज्यों द्वारा अधिक राजस्व का संग्रहण प्रतीत होता है जो एक अच्छी नीति नहीं है। दूसरी तरफ, ऊँची न्यायालय फीस ईमानदार और वास्तविक निर्धन मुकदमेबाज को निराश करेगी।

जिस पक्ष पर अब विचार करने की आवश्यकता है वह यह है कि क्या तंग करने वाली मुकदमेबाजी पर अंकुश लगाने के लिए उपलब्ध विकल्पों में उपयोग/कोर्ट फीस में वृद्धि का आश्रय लेने के उपाय से बचा जा सकता है? अगले अध्याय में इसी विषय पर चर्चा की जाएगी।

अध्याय VII

तुच्छ या तंग करने वाली मुकदमेबाजी पर अंकुश लगाने के लिए उपलब्ध उपाय

इस अध्याय में, यह जांच करने का प्रस्ताव है कि उपयोक्ता खर्च के वर्धन के अलावा कौन-कौन से विकल्प न्यायालयों में तुच्छ या तंग करने वाली मुकदमेबाजी को समाप्त करने के लिए उपलब्ध हैं। स्पष्टतया दो विकल्पों पर विचार किया गया है और न्यूनाधिक प्रभावी पाया गया है। पहला विकल्प व्यष्टिक मामलों में निर्दर्शनात्मक खर्चों का अधिरोपण है। यह दुर्दन्त मुकदमेबाज पर एक विनिर्दिष्ट भयोपरापी है। दूसरी युक्ति, पृथक् विधान के माध्यम से न्यायालयों को संशक्त बनाकर या किसी कानून में विनिर्दिष्ट उपबंध द्वारा है। यह पूर्णतया मुकदमेबाजों पर साधारण भयोपरापी प्रभाव रखता है। और यदि वे विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग करने का सहारा लेते हैं तो उन्हें सचेत बनाता है। इन दो युक्तियों की व्याख्या पर अब चर्चा की जाएगी।

(1) निर्दर्शनात्मक खर्चों का अधिरोपण

निःसन्देह, तुच्छ या तंग करने वाली मुकदमेबाजी एक गंभीर समस्या है और इससे प्रभावी ढंग से निपटने की अपेक्षा है। डा० बुद्धि कोटा सुव्वाराव बनाम के पराशरण, ए.आई.आर. 1996 एस सी 2687 में उच्चतम न्यायालय ने तुच्छ अर्जियों की प्रथा की आलोचना की है। उच्चतम न्यायालय ने संप्रेक्षण किया :

“किसी भी मुकदमेबाज को उस रीति में, जैसा वह चाहता है, अपने कार्यकलापों को निपटवाने के लिए न्यायालय के समय और सार्वजनिक धन पर असीमित दुरुपयोग का अधिकार नहीं है। न्याय तक सहज पहुंच का गलत अर्थ लगाकर तुच्छ अर्जी फाइल करने के लिए एक अनुज्ञित के रूप में दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए।”

जैसा अध्याय 6 में संप्रेक्षण किया गया है, तंग करने वाली मुकदमेबाजी को सीमित करने के प्रयोजन के लिए न्यायालय फीस में वृद्धि एक समुचित कदम नहीं है जैसा न्याय विभाग और सचिवों की स्थायी समिति द्वारा सुझाव दिया गया है। इसके विपरीत, न्यायालय में फीस में वृद्धि न्याय प्राप्त करने के लिए वास्तविक मुकदमेबाजों के अधिकारों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करेगी।

बहुत से अन्य उपाय हैं जो कुछ सीमा तक तंग करने वाली मुकदमेबाजी की बाहुल्यता को समाप्त कर सकते हैं। एक उपाय निर्दर्शनात्मक खर्च को अधिनिर्णीत करना है। न्यायालय तंग करने वाली या तुच्छ मुकदमेबाजी के मामले में निर्दर्शनात्मक खर्च का आदेश पारित कर सकते हैं। उच्चतम न्यायालय और अन्य न्यायालयों ने वास्तव में बहुत से मामलों में निर्दर्शनात्मक खर्च के आदेश पारित किए हैं। राजप्पा हनामन्था रनोज बनाम महादेव चन्नाबासप्पा (2002) 6 एस.सी.सी. 120 में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :

“यह देखकर दुःख होता है कि बहुत से बेर्डमान मुकदमेबाज न्यायालय के आदेशों का अपने हित में प्रयोग करने के लिए कपटपूर्ण तरीके अपनाते हैं और उत्तम पद्धतियों, जिनमें न्यायालयों के आदेशों को हराने के लिए कपटपूर्ण मुकदमेबाजी का फाइल किया जाना भी है, का सहारा लेते हैं। ऐसी प्रवृत्ति पर गंभीरता से ध्यान देने की और समुचित आदेश पारित करके और आवश्यक निर्देश, जिसके अन्तर्गत निर्दर्शनात्मक खर्च भी हैं, जारी करके समाप्त करने की आवश्यकता है।”

इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने तंग करने वाले मामले को फाइल करने के लिए अपीलार्थी के विरुद्ध पच्चीस हजार रुपए के निर्दर्शनात्मक खर्च का आदेश पारित किया था।

एक अन्य वाद में, चरण साहू बनाम डा. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम (2003) एस.सी.सी. 601 में, उच्चतम न्यायालय ने भारत के राष्ट्रपति डा. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के निर्वाचन को चुनौती देने वाली तुच्छ अर्जी फाइल करने के लिए याची पर पच्चीस हजार रुपये का निर्दर्शनात्मक खर्च अधिरोपण किया था। न्यायालय ने यह संप्रेक्षण किया कि ऐसा याची ने, जो एक अधिवक्ता है, वर्ष 1974, 1977, 1982, और 1997 में हुए राष्ट्रपति के निर्वाचनों में निर्वाचित अभ्यर्थियों के निर्वाचन को चुनौती देने वाली चार निर्वाचन याचिकाएं पहले ही फाइल की थीं। ये सभी निर्वाचन याचिकाएं इस आधार पर खारिज कर दी गई थीं कि याची के पास सुनवाई का कोई अधिकार नहीं था। न्यायालय ने चरणलाल साहू बनाम ज्ञानी जैल सिंह 1984 (1) एस.सी.सी. 390 में संप्रेक्षण किया :

“ऐसी याचिकाओं को फाइल करने को हतोत्साहित करने के लिए हमें दो याचिकाओं के विरुद्ध खर्च के बड़े आदेश पारित करना न्यायोचित होगा।”

उस मामले में न्यायालय ने खर्च के बारे में कोई आदेश पारित नहीं किया। इससे अनावश्यक भ्रान्ति पैदा होगी कि उच्चतम न्यायालय, जो राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में निर्वाचन याचिकाओं का निर्णय करने के लिए एक अन्य मंच है, ऐसी याचिकाओं को ग्रहण करना पसंद नहीं करता है। इसके बजाय, न्यायालय ने, निरंकुशता और उदासीन नीति द्वारा, जिसमें याचिकाएं प्रारूपित और फाइल की गई थीं, अपना अनुमोदन अभिव्यक्त किया था। किन्तु जब उसी याची ने एक अन्य निर्वाचन याचिका 1988 में पुनः फाइल की थी तो उच्चतम न्यायालय ने उस पर दस हजार रुपए का खर्च अधिरोपण किया था। चरणलाल बनाम के. आर. नारायणन (1998) एस.सी.सी.-56।

ऐसे अन्य उदाहरण हैं जब उच्चतम न्यायालय ने निर्दर्शनात्मक खर्च के आदेश पारित किए हैं। (शिवामूर्ति बनाम मद्रास विश्व विद्यालय 2001) 10 एस.सी.सी. 483, पंजाब राज्य बनाम भजन सिंह (2001) 3 एसी सी सी 565 उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की धारा 26 में यह उपबंध है कि जब कभी जिला मंच, राज्य आयोग या राष्ट्रीय आयोग यह पाता है कि उसके समक्ष संस्थित की गई कोई शिकायत तुच्छ या तंग करने वाली है, तो यह ऐसे तर्कसंगत आदेश से ऐसी शिकायत को विरोधी पक्षकार को ऐसा खर्च संदाय करने के लिए शिकायतकर्ता को निर्देश देने वाले आदेश के साथ खारिज कर देगा।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 35क भी मिथ्या या तंग करने वाले प्रतिवादों की बावत प्रतिकारात्मक खर्च का उपबंध करती है। वाद या किसी अन्य कार्यवाही पर कोई पक्षकार इस आधार पर आक्षेप कर सकेगा कि ऐसा दावा या प्रतिवाद या कोई भाग, जहां तक इस आक्षेपकर्ता का संबंध है, ऐसे पक्षकार की जानकारी में मिथ्या या परेशान करने वाला है। और यदि, तदुपरान्त, ऐसा दावा या प्रतिवाद अनुज्ञात हो जाता है तो उसका परित्याग कर दिया जाता है, या उसे वापस ले लिया जाता है तो न्यायालय यह अभिनिर्धारित कर सकेगा कि ऐसा दावा या प्रतिवाद मिथ्या या तंग करने वाला है और ऐसे आक्षेपकर्ता को खर्च के संदाय के लिए आदेश कर सकेगा जिसके द्वारा ऐसा दावा या प्रतिवाद पेश किया गया था।

टी.एस. अरविंदनम बनाम टी.बी. सत्यापाल ए. आई. आर. 1977 एस.सी. 1977 में, न्यायमूर्ति कृष्ण अव्यर ने न्यायालय प्रक्रिया के घोर दुरुपयोग के लिए याची की निंदा की जिसका उसने बिना पश्चाताप किए सहारा लिया था। यह अभिनिर्धारित किया गया कि यदि विचारण न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि मुकदमा तंग करने से प्रेरित था और बिल्कुल बेबुनियाद था तो सि प्र सं की धारा 35 के अधीन भयोपरापी कार्रवाई करनी चाहिए। राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण पुनर्विलोकन आयोग ने भी यही कथन किया है कि (पैरा 7-11) निर्दर्शनात्मक खर्च का पंचाट विधि की प्रक्रिया के दुरुपयोग के समुचित मामलों में ही किया जाना चाहिए।

(2) तंग करने वाली मुकदमेबाजी को सफाया करने के लिए एक पृथक् विधि या अधिनियम तंग करने वाली मुकदमेबाजी को समाप्त करने के लिए एक अन्य युक्ति है। यद्यपि इस विषय पर कोई केन्द्रीय अधिनियम नहीं है, यह देखना महत्वपूर्ण है कि मद्रास राज्य के विधानमंडल ने तंग करने वाली मुकदमेबाजी (निवारण) अधिनियम, 1949 (1949 का मद्रास अधिनियम 8) अधिनियमित किया था। यह अधिनियम अंग्रेजी परिनियम 16 और 17 विषय चैम्बर 30 (अब ज्यूडीकेचर)

(समेकन) अधिनियम, 1625 (15 और 16 जी वी सी 46) के उच्चतम न्यायालय द्वारा निरसित के सदूश है। इसमें यह उपबंध है कि जब उच्च न्यायालय का, महाधिवक्ता द्वारा उसे किए गए आवेदन पर, यह समाधान हो जाता है कि किसी व्यक्ति ने किसी न्यायालय या किन्हीं न्यायालयों में अभ्यासतः या किसी युक्तियुक्त आधारों के बिना सिविल या दापिङ्क कार्यवाही संस्थित की है तो वह उस व्यक्ति को सुने जाने का अवसर दिए जाने के पश्चात्, एक आदेश पारित करेगा कि कोई भी सिविल या दापिङ्क कार्यवाही न्यायालय की अनुमति के बिना राज्य में किसी न्यायालय में उसके द्वारा संस्थित नहीं की जाएगी। प्रेसीडेन्सी टाडन के मामले में अनुमति उच्च न्यायालय द्वारा प्रदान की जा सकेगी और अन्यत्र के लिए अनुमति जिला और सत्र न्यायाधीश द्वारा प्रदान की जा सकेगी। अनुमति के बल तब प्रदान की जा सकेगी जब न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी कार्यवाहियों के संस्थित किए जाने के लिए प्रथम दृष्ट्या आधार विद्यमान है। ऐसी अनुमति अभिप्राप्त किए बिना ऐसे व्यक्ति द्वारा संस्थित कोई कार्यवाही खारिज की जा सकती है। आदेश को राजपत्र में प्रकाशित किया जाएगा। उच्चतम न्यायालय की पांच न्यायाधीश वाली न्यायपीठ ने पी.एच. भाव ले बनाम आस्थ प्रदेश राज्य ए आई आर 1965 एस सी 1827 में मद्रास उच्च न्यायालय अधिनियम की सांविधानिक वैधता को अभिनिर्धारित किया था। न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला (न्यायमूर्ति तत्कालीन) स्वयं के लिए और न्यायमूर्ति के सुब्बाराव, न्यायमूर्ति वांचू और न्यायमूर्ति सिकरी ने निम्नवत् अभिनिर्धारित किया—

“हमारे समक्ष अपीलार्थी का अगला तर्क यह है कि वह अधिनियम असंविधानिक है क्योंकि यह नागरिकों को न्यायालय पहुँचने से और अनुतोष प्राप्त करने से रोकता है जिसके लिए प्रत्येक व्यक्ति विधि के शासन द्वारा शासित किसी राज्य में हकदार है। यह तर्क हमें स्वीकार्य नहीं है क्योंकि ऐसे मुकदमेबाज (जो उच्च न्यायालय) की मंजूरी के बिना न्यायालय पहुँचने से रोके जाने चाहिए उनका स्वयं एक वर्ग है। उन्हें अधिनियम में उन व्यक्तियों के रूप में वर्णित किया गया है जो अभ्यासतः और बिना युक्तियुक्त कारण के तंग करने वाली सिविल या दापिङ्क कार्यवाई फाइल करते हैं। अधिनियम ऐसे व्यक्ति को न्यायालय में जाने के उसके अधिकार से बंचित करने के किए आशयित नहीं है। यह एक रास्ता सृजित करता है ताकि न्यायालय किसी पक्षकार को परेशान किए जाने से पूर्व किसी दावे की वास्तविकता की जांच कर सकेगा। इंगलैंड में पारित किया गया ऐसा अधिनियम न्यायालय प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने के लिए अनेक मामले में लागू किया गया है। अपने उद्देश्य में, अधिनियम जनता की भलाई के लिए है क्योंकि यह दावा नहीं किया जा सकता है कि विधान या प्रशासन को नियंत्रित किए बिना तंग करने वाली कार्रवाईयाँ लाना किसी नागरिक का अनुलंघनीय अधिकार है। अधिनियम लोकहित की सहायता करता है और वह अवरोध, जिसे यह सृजित करता है, लोक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए अभिकल्पित है। अधिनियम ऐसे व्यक्ति को निवारित नहीं करता है जिसे वास्तविक और सद्भावी कार्रवाईयाँ लाने के कारण अभ्यस्त मुकदमेबाज होना घोषित किया गया है। यह केवल तंग करने वालों के प्रयासों को कम करने के लिए है। हमारे निर्णयानुसार यह अधिनियम अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 14 के आधार पर असांविधानिक या आधाती के रूप में वर्णित नहीं किया जा सकता है।

कोई केन्द्रीय अधिनियम तंग करने वाली मुकदमेबाजी को समाप्त करने के लिए उसी आधार पर अधिनियमित किया जा सकता है। विधानमंडल द्वारा बनाई गई किसी ऐसी विधि के अभाव में भी उच्च न्यायालय अपनी ही प्रक्रिया और इससे संबंधित सिविल न्यायालयों की प्रक्रिया अपनी नियम बनाने की शक्ति का प्रयोग करके तंग करने वाले मुकदमेबाज के रूप में व्यक्तियों को घोषित करने के प्रयोजन के लिए तंग करने वाली मुकदमेबाजी से निपटने के लिए प्रक्रिया विहित करते हुए नियम बना सकता है। सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के भाग 10 में जिसमें धारा 121 से 131 तक सम्मिलित हैं, उच्च न्यायालय अपने अधीक्षण के अधीन रहते हुए अपनी स्वयं की प्रक्रिया और सिविल न्यायालयों की प्रक्रिया को विनियमित करने वाले नियम बना सकता है और ऐसे नियमों द्वारा पहली अनुसूची में सभी या उनमें से किसी नियम को बातिल कर सकता है, परिवर्तित कर सकता है या उसमें अभिवर्धन कर सकता है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 225 में उच्च न्यायालय द्वारा नियम बनाने के लिए उपबंध है। इसी प्रकार, न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 की धारा 23 भी उच्च न्यायालय की नियम बनाने की शक्ति का उपबंध करती है। जोस बनाम मधु एल टी 855 में केरल उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष यह प्रश्न था कि क्या तंग करने वाली मुकदमेबाजी घोषित करने के लिए राज्य विधानमंडल द्वारा किसी

विधान के अभाव में, उच्च न्यायालय अपनी नियम बनाने की शक्ति के अधीन नियम बना सकता है। जोनस बनाम स्कार्फिंग (1962) 66 आस्ट्रेलिया एल आर 810 में आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय के विनिश्चय पर निर्भर करते हुए, केरल उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सिविल प्रक्रिया संहिता के भाग 10, भारत के संविधान के अनुच्छेद 225 और न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 की धारा 23 में यथा उपबंधित प्रक्रिया के अधीन नियम बनाने की इसकी शक्तियों के अधीन ऐसे नियम स्पष्ट रूप से उच्च न्यायालय द्वारा बनाये जा सकते हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि मात्र विधानमंडल को हस्तक्षेप करना चाहिए। विलियम्स बनाम स्पाटज (1992) 660 ए.एल.जे.आर. रिपोर्ट देखिए। आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय के अन्य विनिश्चय पर निर्भर करने के पश्चात् केरल उच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया था कि उच्च न्यायालय द्वारा अपनी नियम बनाने की शक्ति का प्रयोग करते हुए ऐसे किसी नियम बनाने से पूर्व उच्च न्यायालय के लिए यह अनुशेय है कि वह प्रक्रिया के दुरुपयोग की कोटि में आने वाले मामलों के, न्यायालय में ऐसे मामलों के फाईल किए जाने के पश्चात्, “स्थायी रोक” मंजूर करे। उच्च न्यायालय संहिता की धारा 151 की और न्यायालय की भी अपनी अन्तर्निहित शक्ति का प्रयोग करके ‘स्थायी रोक’ मंजूर कर सकता है।

ऊपर विचार-विमर्श से यह स्पष्ट होता है कि तंग करने वाली या तुच्छ मुकदमेबाजी की समस्या उपरोक्त पद्धतियों द्वारा सुलझाई जा सकती है और तंग करने वाली मुकदमेबाजी को समाप्त करने के लिए न्यायालय फीस बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, यह निर्धन वास्तविक मुकदमेबाज को न्यायालय के दरवाजे खटखटाने से प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर सकता है।

इस प्रश्न पर कि क्या न्यायालय फीस की, रूपये के मूल्य में तीव्र गिरावट के कारण, पुनरीक्षित किए जाने की आवश्यकता है जिससे कि वास्तविक खर्च परिलक्षित किए जा सकें, अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

अध्याय VIII

रूपये के अवमूल्यन के कारण न्यायालय फीस का पुनरीक्षण

19-7-2002 को हुई सचिवों की स्थायी समिति की बैठक के कार्यवृत में यह कहा गया है कि अधिकांश मामलों में न्यायालय फीस की बहुत लम्बे समय से पुनरीक्षा नहीं की गई थी और वर्तमान में न्यायिक प्रक्रिया के प्रशासनिक खर्च के केवल एक भाग को ही कवर किया गया है। किसी न्यायिक कार्यवाही में संदर्भ किए जाने के लिए अपेक्षित न्यायालय फीस की रकम न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 की अनुसूची 1 और 2 में विहित है। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 की अनुसूची 1 मुल्यानुसार न्यायालय फीस विहित करती है जिसका अर्थ है कि न्यायालय फीस विषय वस्तु के मूल्य के अनुसार संदर्भ की जानी है। अनुसूची-2 में न्यायालय फीस विहित की गई है। यह सच है कि रूपये के मूल्य का पिछले चार दशकों में काफी अवमूल्यन हुआ है। किन्तु न्यायालय फीस भी काफी लम्बे समय से किसी केन्द्रीय अधिनियम द्वारा पुनरीक्षित नहीं की गई है। तथापि, अनेक राज्यों ने न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में राज्य संशोधनों द्वारा या उनके अपने न्यायालय फीस अधिनियम द्वारा न्यायालय फीस दरों को संशोधित कर दिया है। फिर भी रूपये के अवमूल्यन और मुद्रा स्फीति की दर में वृद्धि को ध्यान में रखते हुए न्यायालय अधिनियम 1870 की अनुसूची 2 में वथाविहित न्यायालय फीस की नियत दरें पुनरीक्षित की जाएं ताकि मुद्रा स्फीति के प्रभाव को समाप्त किया जा सके।

हाल में ही किए गए परिवर्तनों में एक परिवर्तन मध्य प्रदेश राज्य में किया गया है। उक्त राज्य ने 1-4-1997 से 1997 के मध्य प्रदेश अधिनियम सं. 12 द्वारा नियत न्यायालय फीस की दरें संशोधित कर दी है। अब, वादपत्र आदि के फाइल किए जाने पर मध्य प्रदेश न्यायालय फीस विषय वस्तु की मूल्य की रकम की प्रतिशतता के आधार पर संदर्भ की जानी है। इसी प्रकार, महाराष्ट्र में न्यायालय फीस दर महाराष्ट्र के 1997 अधिनियम सं. 33 द्वारा 21-2-97 से बम्बई न्यायालय फीस अधिनियम, 1959 का संशोधन करके पुनरीक्षित की गई है। अन्य राज्यों ने भी समय-समय पर न्यायालय फीस की दरें संशोधित की हैं।

विधि आयोग ने अपनी 127 वीं रिपोर्ट में पैरा 5-13 पर यह भी सुझाव दिया है कि रूपये के मूल्य में गिरावट के कारण न्यायालय फीस में कतिपय अपवादों के साथ वृद्धि की जाए।

जहां तक मूल्यानुसार न्यायालय फीस का संबंध है क्योंकि उद्ग्रहण दावे के मूल्य की प्रतिशतता है, यह आवश्यक नहीं है कि रूपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप प्रतिशतता में वृद्धि की जाए। यही कारण है कि न्यायालय फीस दावे के अनुपात में संदर्भ की जायेगी जो किसी भी दशा में रूपये के परिवर्तित मूल्य को परिलक्षित करने के लिए बढ़ाई जाएगी। तथापि नियत न्यायालय फीस के संदर्भ में मूल्य के वर्तमान मूल्य को परिलक्षित करने के लिए प्रभारों को पुनरीक्षित करने की आवश्यकता हो सकती है।

इसके साथ-साथ यह बल दिये जाने की आवश्यकता है कि न्यायालय फीस में कोई वृद्धि न्यायालय तक पहुंच के अधिकार को प्रतिकूल रूप से प्रभावित न करे। आगे न्यायालय फीस के माध्यम से संग्रहीत राशि उस मूल्य से अधिक नहीं होनी चाहिए जो कि सिविल न्यायालय के प्रशासन में उपगत की गई है। इन परिसीमाओं के अधीन रहते हुए, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 की अनुसूची 2 के अधीन विहित नियत न्यायालय फीस की रकम, रूपये के अवमूल्यन की सीमा के अनुपात में, बढ़ायी जाए।

अध्याय IX

निष्कर्ष और सिफारिशें

पूर्वगामी अध्यायों में हमारे विचार विमर्श के आधार पर निम्न लिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

1. न्यायालय तक पहुंच का अधिकार अब मूलभूत मानव अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है और इसके उद्गम का 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पारित सार्वभौमिक घोषणा (के अनुच्छेद 8 और सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों पर प्रसंविदा अन्तर्राष्ट्रीय) के अनुच्छेद 2 से पता लगाया जा सकता है।

2. यह अवधारणा कि न्यायालय फीस तुच्छ और तंग करने वाली मुकदमेंबाजी (वह पहलू जिसके प्रति संदर्भ में प्रतिनिर्देश किया गया है) रोकने के लिए बढ़ायी जानी चाहिए ठीक लाई मेकाले, के समय से और साथ ही विधि आयोग की पश्चातवर्ती रिपोर्टों में भारत के उच्चतम न्यायालय के नियंत्रों में न्यायालय फीस के लिए आधार के रूप में स्वीकार नहीं की गई है। यह अवधारणा भारत के संविधान के अनुच्छेद 21, 38 और 39क से संगत नहीं है।

3. न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 केन्द्रीय अधिनियम के रूप में अधिनियमित किया गया था और यह भारत शासन अधिनियम, 1935 और भारत के संविधान के अनुच्छेद 372 के उपबंधों के आधार पर प्रवृत्त बना हुआ है। इसे ऐसे विधानमंडल द्वारा ही संशोधित या निरस्त किया जा सकता है जो कि न्यायालय फीस संबंधी किसी विधि को अधिनियमित करने के लिए सक्षम है।

4. भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 (राज्यसूची) की प्रविष्टि 3 में वर्णित न्यायालय फीस अर्थात् “उच्चतम न्यायालय के सिवाय किसी न्यायालय में संदेय फीस पर विनिर्दिष्ट प्रविष्टि को ध्यान में रखते हुए सभी न्यायालयों (उच्चतम न्यायालय के सिवाय) में संदेय न्यायालय फीस का विषय राज्य का विषय है और किसी राज्य में अधिकार रखने वाले राज्य विधानमंडल ही उच्च न्यायालयों और उसके अधीनस्थ अन्य न्यायालयों में संदेय न्यायालय फीस पर किसी विधि को अधिनियमित करने या संशोधित करने के लिए सक्षम है। फिर भी भारत के संविधान के अनुच्छेद 145 (1)(च) के अनुसार, उच्चतम न्यायालय, संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन रहते हुए उच्चतम न्यायालय में संदेय फीस से संबंधित नियम भी बना सकता है। वास्तव में, उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 145 के अधीन प्रदत्त अपनी शक्तियों का प्रयोग करने हेतु” उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 “नाम से ज्ञात नियम बनाए हैं और इन नियमों को तीसरी अनुसूची उच्चतम न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस की सारणी का उपबंध करती है। उच्चतम न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों को ध्यान में रखते हुए, जिन्हें वह न्यायालय उपांतरित करने या संशोधित करने के लिए सक्षम है, विधि आयोग, जहां तक उच्चतम न्यायालय का संबंध है, किसी संशोधन का सुझाव देने का प्रस्ताव नहीं करता है।

5. जहां तक संघराज्यक्षेत्रों का संबंध है, भारत के संविधान के अनुच्छेद 246 (4) के अनुसार संसद, किसी संघराज्यक्षेत्र पर अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते समय किसी न्यायालय में संदेय न्यायालय फीस से संबंधित कोई विधि बना सकती है यद्यपि उसमें संशोधन कर सकती है। इसके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति, दिल्ली और चंडीगढ़ के सिवाय, किसी संघराज्यक्षेत्र के लिए विनियम भी बना सकते हैं। राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार बनाया गया कोई विनियम उस संबंध में संघराज्यक्षेत्र को लागू संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि को निरस्त कर सकता है या उसमें संशोधन कर सकता है और इस प्रकार बनाए गए विनियम का वही बल और प्रभाव होगा जैसे किसी संसद अधिनियम का तथापि पांडिचेरी संघराज्यक्षेत्र के लिए कोई विनियम केवल तब बनाया जा सकता है जब पांडिचेरी विधान सभा का विघटन या निलंबन हो गया हो।

6. दिल्ली और पांडिचेरी संघराज्यक्षेत्रों की भी पृथक विधान सभाएं हैं। ये विधान सभाएं भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची की राज्य सूची (सूची 2) के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय पर विधि बनाने के लिए सक्षम हैं। निःसंदेह संसद द्वारा संविधान के अनुच्छेद 245(4) के अधीन अपनी शक्ति के अधीन इन संघराज्यक्षेत्रों के लिए बनाई गई कोई विधि ऊपर उल्लिखित उन विधान सभाओं में से किसी विधान सभा द्वारा बनाई गई किसी विधि पर अभिभावी होगी।

7. जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है न्यायालय फीस, सांविधानिक स्कीम अनुसार, राज्य का विषय है। निम्नलिखित राज्यों ने अपने राज्यों को लागू किए गए न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 को निरस्त कर दिया है और अपने न्यायालय फीस अधिनियम अधिनियमित कर दिए हैं। ये राज्य हैं :

- | | | | |
|-------------------|--------------------|----------------------------------|------------------|
| (1) आन्ध्र प्रदेश | (2) गुजरात | (3) हिमाचल प्रदेश | (4) जम्मू-कश्मीर |
| (5) कर्नाटक | (6) केरल | (7) महाराष्ट्र | (8) राजस्थान |
| (9) तमिलनाडु | (10) पश्चिमी बंगाल | (11) संघ राज्य क्षेत्र पांडिचेरी | |

अधिकांश अन्य राज्यों ने भी उनके अपने राज्यों को लागू न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 का संशोधन कर दिया है। ये हैं :

- | | | |
|------------|------------------|-----------------|
| (1) असम. | (2) बिहार | (3) मध्य प्रदेश |
| (4) उड़ीसा | (5) पंजाब | (6) हरियाणा |
| (7) मेघालय | (8) उत्तर प्रदेश | (9) गोवा |

8. काफी लम्बे समय से भारतीय दंड संहिता, 1860 और अन्य दांडिक अधिनियमों के अधीन विहित जुर्माने की दरों में वृद्धि नहीं की गई है यद्यपि इन सभी वर्षों के दौरान रुपये के मूल्य में पर्याप्त गिरावट हुई है। विधि आयोग का सुझाव है कि भारतीय दंड संहिता, 1860 और अन्य दांडिक अधिनियमों के अधीन विहित जुर्माने की रकम रुपये के मूल्य में गिरावट के अनुपात में बढ़ायी जाए। कुछ सीमा तक न्यायालय प्रशासन का बढ़ा हुआ खर्च इससे पूरा हो जाएगा।

9. न्याय प्रशासन समवर्ती सूची के अन्तर्गत आता है (भारत के संविधान की सातवीं सूची की अनुसूची 3 की प्रविष्टि 11क)। उच्च न्यायालय और अन्य अधीनस्थ न्यायालय न केवल राज्य सूची और समवर्ती सूची के अधीन राज्यों द्वारा बनाई गई विधियों से संबंधित मामलों का निपटान करते हैं। बल्कि संघ सूची और समवर्ती सूची के अधीन राज्य विधानमंडल या संसद द्वारा बनाई गई विधियों से संबंधित मामलों के सम्पूर्ण प्रपुंज को भी आज निपटाते हैं। उदाहरणार्थ, सम्पत्ति अन्तरण, अधिनियम, संविदा अधिनियम, विक्रय कर अधिनियम, भारतीय दंड संहिता, सिविल और दांडिक प्रक्रिया संहिता समवर्ती सूची से संबंधित हैं और केन्द्रीय अधिनियम हैं। पराक्रम्य लिखित अधिनियम सूची 1 में है और केन्द्रीय अधिनियम है। इन केन्द्रीय विधियों से उद्भूत होने वाले मामले अब राज्यों द्वारा स्थापित अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा निपटाए जा रहे हैं। अब तक केन्द्रीय सरकार अधीनस्थ न्यायालयों के लिए न्याय का कोई भाग वहन नहीं कर रही है। केन्द्रीय सरकार केवल उच्चतम न्यायालय और संघराज्यक्षेत्रों के अन्य न्यायालयों के लिए खर्च वहन कर रही है। राज्यों में उच्च न्यायालयों और अधीनस्थ न्यायालयों के लिए खर्च संबद्ध राज्य सरकार द्वारा वहन किए जाते हैं।

विधि आयोग राष्ट्रीय संविधान कार्यकरण पुर्नविलोकन आयोग द्वारा की गई सिफारिशों (पैरा 7.8.2 पर) से पूर्णतः सहमत है कि “योजना आयोग और वित्त आयोग प्रत्येक राज्य में राज्य न्यायपालिका की मांग पूरी करने के लिए राष्ट्रीय स्तरों से पर्याप्त निधि आबंटित करे।

10. जहां तक तंग करने वाली मुकदमेबाजी के निवारण का संबंध है, तंग करने वाली मुकदमेबाजी (निवारण) अधिनियम 1949 (1949 का मद्रास अधिनियम सं. ४) के नाम से ज्ञात पूर्व संयुक्त मद्रास राज्य का राज्य अधिनियम है। यह इंग्लिश स्टेट्यूट 16 और 17 विक. सीएच 30 (अब निरस्त) के आधार पर बनाया गया था। 1949 का उक्त मद्रास अधिनियम

सं. 8 यह उपबंध करता है कि जब उच्च न्यायालय का किसी महा अधिवक्ता द्वारा उसे किए गए आवेदन पर यह समाधान हो जाता है कि किसी व्यक्ति ने किसी न्यायालय या न्यायालयों में तंग करने वाली सिविल या दांडिक कार्यवाही अभ्यस्ततः या बिना किसी युक्तियुक्त आधारों पर संस्थित की है तो यह, उस व्यक्ति को सुने जाने का अवसर दिए जाने के पश्चात् आदेश परित कर सकेगा कि न्यायालय में उसके द्वारा कोई सिविल या दांडिक कार्यवाही न्यायालय की अनुमति के बिना संस्थित नहीं की जाएगी। उच्चतम न्यायालय की पीठ ने पांच न्यायधीश वाली पी.एच. मामले बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य एआईआर 1965 एस सी 1827 में उक्त अधिनियम की सांविधानिक अधिनिर्धारित वैधता की है।

हम सिफारिश करते हैं कि इस ऊपर उल्लिखित 1949 के मद्रास अधिनियम 8 के आधार पर, एक केन्द्रीय अधिनियम तंग करने वाली या तुच्छ मुकदमेबाजी को समाप्त करने के लिए अधिनियमित किया जा सकता है।

11. जैसा उपरोक्त पैराओं में कहा गया है, न्यायालय फीस की बाबत केन्द्रीय सरकार और संसद की शक्ति उच्चतम न्यायालय तथा संघराज्यक्षेत्रों पर अधिकारिता का प्रयोग करने वाले न्यायालयों में संदेय न्यायालय फीस तक सीमित है। न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 में यथा विहित न्यायालय फीस की दर, जहां कहीं लागू हो, काफी लम्बे समय से केन्द्रीय सरकार और संसद द्वारा पुनरीक्षित नहीं की गई है किन्तु रुपये का मूल्य काफी गिर गया है। इसलिए हम सिफारिश करते हैं कि संघ राज्यक्षेत्रों पर अधिकारिता का प्रयोग करने वाले न्यायालयों में संदेय नियत न्यायालय फीस और जहां यह केन्द्रीय न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 की अनुसूची द्वारा शासित होती है, रुपये के मूल्य में कमी के अनुपात में बढ़ायी जानी चाहिए।

12. जहां तक मूल्यानुसार न्यायालय फीस का संबंध है, चूंकि उदग्रहण दावे के मूल्य की प्रतिशतता है, यह अनिवार्य नहीं है कि रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप प्रतिशतता बढ़ायी जाए। यही कारण है कि न्यायालय फीस उस दावे के अनुपात में संदर्भ की जाएगी जो किसी भी दशा में रुपये के परिलक्षित करने के लिए बढ़ाया जाएगा। तथापि, नियत न्यायालय फीस के संदर्भ में, रुपये के वर्तमान मूल्य को परिलक्षित करने के लिए प्रभारों को पुनरीक्षित करने की आवश्यकता हो सकती है। इसी के साथ यह जोर दिए जाने की अपेक्षा है कि न्यायालय फीस में कोई वृद्धि न्यायालय तक पहुंच के अधिकार को प्रतिकूल रूप से प्रभावित न करे। इसके अतिरिक्त, न्यायालय फीस के रूप में संगृहीत रकम सिविल न्याय प्रशासन पर उपगत व्यय से अधिक नहीं होनी चाहिए। इस सीमाओं के अधीन रहते हुए, न्यायालय फीस अधिनियम, 1870 की अनुसूची 2 के अधीन विहित नियत न्यायालय फीस की रकम रुपये के अवमूल्यन की सीमा के अनुपात में बढ़ायी जा सकती है।

हम इस रिपोर्ट को तैयार करने में विधि आयोग के अंश-कालिक सदस्य डा. एस. मुरलीधर द्वारा दिए गए व्यापक योगदान को स्वीकार करते हैं।

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

(ह/-)

(न्यायमूर्ति एम. जगन्नाथ राव)

अध्यक्ष

(ह/-)

(डा. एन. एम. धराटे)

उपाध्यक्ष

(ह/-)

(डा. के. एन. चतुर्वेदी)

सदस्य-सचिव

तारीख : 25 फरवरी, 2004

Price : Inland : Rs. 1490
Foreign : \$ 31.63
£ 18.03